संस्थापक

शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श

असग़र वजाहत

संपादक

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान

संपादन सहयोग

कांतिमोहन 'सोज़'

रेखा अवस्थी

जवरीमल्ल पारख

संजीव कुमार

हरियश राय

बली सिंह

कार्यालय सहयोग

मुशर्रफ़ अली

इस अंक की सहयोग राशि

एक सौ रुपये

(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय

220 सहयोग एपार्टमेंट्स

मयूर विहार-1, दिल्ली-110091

Email : jlsind@gmail.com

Website : www.jlsindia.org

Mobile : 9818859545, 9818577833

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया

ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं

जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

वर्ष 35 : अंक 4 : अक्टूबर-दिसंबर 2021

अनुक्रम

संपादकीय

अविस्मरणीय मन्नू जी का स्मरण

मन्नू भंडारी की कहानी यात्रा : चंचल चौहान / 5

मन्नूजी : वह सौम्य दृढ़ता : विभास वर्मा / 15

वैचारिकी

पतनशील हिंदू और पूंजी की संस्कृति... : सिद्धार्थ / 18

जनगीत

छह जनगीत : मुनेश त्यागी / 27

कविताएं

ओमप्रकाश बरनवाल / 33

सुभाष राय / 35

राकेश रेणु / 38

वीरेंद्र सारंग / 41:

प्रकाश चंद्रायन / 43:

शैलेंद्र चौहान / 50

अनुपम सनवाल / :56

द्वारिका प्रसाद 'चारुमित्र' /58

अंजन कुमार / 59

प्रेम कविताएं

सीरज सक्सेना / 60

नवांकुर

तीन कविताएं : मनीष सिन्हा मुसाफ़िर / 63

ग़ज़ल

नसीम अजमल / 67

कहानी

दाहकर्म : नर्मदेश्वर /68
राम के नाम पर : टेकचंद / 76

पुस्तक समीक्षा

घुटती आज़ादी की ख़ौफ़नाक तस्वीरें : मुकेश कुमार / 82
कथेतर गद्य की चतुरंग : रामप्रकाश त्रिपाठी / 86
देश के भीतरी संकटों को बयां करती कविताएं : शिव कुमार यादव / 96
लमही का अमृतराय विशेषांक : अनुराधा गुप्ता / 99

उपन्यास अंश

वचनबद्ध : *सांप* उपन्यास का अंश : रत्न कुमार सांभरिया / 102

संपादकीय

नया पथ के जुलाई-सितंबर 2021 अंक की परिकल्पना में कोरोना काल की समस्याओं और उसी दौरान दिवंगत हुए रचनाकारों और संस्कृतिकर्मियों पर लेखों के अलावा कुछ रचनाएं देने का भी विचार था, मगर अंक का आकार बड़ा हो जाने के कारण रचनाएं दे पाना संभव नहीं हो पाया। इसलिए उन रचनाओं को मौजूदा अंक में शामिल करने का विचार बना। इस बीच कुछ सामग्री और मिली, उसके साथ अब यह अंक आपके सामने है।

कोरोना की भयावहता कुछ कम हुई है, मगर यह वायरस बार बार रूपांतरित हो रहा है, अभी हाल ही में इसका एक रूप 'ओमिक्रोन' नाम से संक्रमित हो रहा है जो दक्षिण अफ्रीका के देशों से उत्पन्न हो कर पूरी दुनिया में एक नयी लहर के रूप में फैला। ग़नीमत यह है कि वैज्ञानिकों की राय में यह रूप उस तरह घातक नहीं है जैसा कि डेल्टा बी नामक वायरस था जिसकी चपेट में आकर लाखों जानें काल कवलित हो गयीं।

कोरोना के ख़तरे और बीजेपी सरकारों के दमन, उत्पीड़न को झेलते हुए देश के किसान दिल्ली की सीमाओं और अन्य हिस्सों में अपना साझा आंदोलन करते रहे, अंत में केंद्र सरकार को इस ऐतिहासिक आंदोलन के आगे घुटने टेकने पड़े, मोदी सरकार के सामने पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों में पराजय का भय आ खड़ा हुआ तो प्रधान मंत्री ने अचानक उसी पुरानी शैली में तीनों काले क़ानून वापस लेने की घोषणा कर दी जिसे बाद में संसद का अनुमोदन मिल गया और राष्ट्रपति की मंज़ूरी भी हासिल हो गयी। इस तरह संयुक्त किसान मोर्चा के साथ केंद्र सरकार के समझौते के आधार पर किसान दिल्ली की सीमाओं से वापस अपने अपने राज्यों में चले गये। उम्मीद है कि भाजपा सरकारों ने किसानों को जो पीड़ा पहुंचायी है, उस पीड़ा की कसक और तमाम अवाम के साथ हो रहे अत्याचारों की बाढ़ आगामी विधानसभा चुनावों के नतीजों में प्रतिबिंबित होगी, बशर्ते चुनाव निष्पक्ष और शांतिपूर्ण तरीक़े से हो सकें। भाजपा के नेतृत्व ने अपनी चुनाव मशीनरी पूरी तरह सक्रिय कर दी है। चुनावों की घोषणा से पहले ही नरेंद्र मोदी ने सारा काम काज छोड़ कर चुनावी प्रचार शुरू कर दिया। नये नये वायदे, नयी नयी परियोजनाओं की आधारशिला आदि के आयोजन तेज़ी से शुरू हुए। कुछ जगह तो पहले भी आधारशिला आदि के आयोजन हुए थे, मगर चुनाव की सनक में दोबारा कर दिये1 ममता बनर्जी ने ऐसे ही एक उद्घाटन की चुटकी लेते हुए दुनिया को सच बता ही दिया। भाजपा अपने चुनाव प्रचार में हर बार की तरह सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करने की कोशिश करेगी ही।

इस बीच कुछ सकारात्मक घटनाक्रम भी विकसित हुए। उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी ने राज्य की जनता की नब्ज़ पहचानते हुए एक सुदृढ़ वैकल्पिक गठबंधन विकसित कर लिया जो मज़बूती से धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और अवाम के हित के एजेंडे से भाजपा की सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की चाल को विफल कर रहा है, उसे साझा किसान आंदोलन से मिली दीक्षा का फ़ायदा भी हो रहा है, जिससे अवाम के भीतर जनवादी चेतना का संचार हुआ है, परस्पर भाईचारे और गंगा-जमुनी तहज़ीब की बात अब लोगों की ज़ुबां पर है जो देश के अल्पसंख्यकों को आश्वस्त करती है और भाजपा की सांप्रदायिक राजनीति का काट भी पेश करती है। इसी तरह की बात अन्य चार राज्यों में भी ग़ैरभाजपाई

भाजप के विरोध में सक्रिय पार्टियां पूरे ज़ोरशोर से कर रही हैं जिससे जनमानस में धर्मनिरपेक्षता, संविधान की रक्षा और अन्य जनवादी सवाल गूंज रहे हैं जिन्हें किसान आंदोलन ने तेरह महीने के अपने संघर्ष से देश के एजेंडे पर ला दिया है।

इसी बीच एक नकारात्मक घटनाविकास भी अंदर अंदर अपनी पैठ बना रहा है। कारपोरेट पूंजी सभी राज्यों में भाजपा के विकल्प के रूप में ऐसे दलों को उभारने की भयंकर कोशिश कर रही है जो वामपंथ को अलग थलग कर सकें, इसीलिए पश्चिम बंगाल में विपक्ष की स्पेस भाजपा को दिलाने में कारपोरेट पूंजी कामयाब हो गयी है, त्रिपुरा में उस स्पेस को तृणमूल कांग्रेस को दिलाने की कोशिश चल रही है जिससे वामपंथ वहां फिर से न उभर सके। केरल में अभी प्रतिक्रियावाद को सफलता नहीं मिली है, मगर कोशिश जारी है। राष्ट्रीय स्तर पर भी कोशिश है कि भाजपा का विकल्प कोई ऐसा गठबंधन सामने आये जो उसी तरह की गुंडावाहिनी से लैस हो और वामपंथ को शामिल न करे, ममता बनर्जी को नरेंद्र मोदी के विकल्प के रूप में स्थापित करने की चाल भी चली जा सकती है। विपक्षी एकता के नाम पर वामरहित विपक्ष की मोर्चाबंदी के प्रयास इस बीच लगातार होंगे जिससे अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी और देशी कारपोरेट पूंजी के हितों की रक्षा करने वाली सरकार ही केंद्र में स्थापित होती रहे, नागनाथ की जगह सांपनाथ आ जायें जैसाकि विकसित पूंजीवादी देशों में होता रहता है। विश्व के कई देशों में धुरदक्षिणपंथी सरकारें इसी कारेपोरेट पूंजी के बल पर सत्ता पर क़ाबिज़ हो गयी हैं जो वामपंथ के साथ शत्रुतापूर्ण रुख़ अख़्तियार करती हैं। उदाहरण के लिए पोलैंड में धुर दक्षिणपंथी राष्ट्रपति जून 2019 में मोदी की ही तरह दोबारा चुनाव जीत गया, वहां की संसद में वामपंथ को एक भी सीट नहीं मिली! यही हाल हंगरी का है। यह ग़ौरतलब है कि सोवियत युग में ये देश कम्युनिस्ट देश माने जाते थे। ये सब अब अमरीकापरस्त हो चुके हैं। इसका सारतत्व यही है कि अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी इन देशों में भी अपना वर्चस्व क़ायम कर चुकी है और उसी के ग़ुलाम अब सत्तासीन हैं। भारत में भी यही हो रहा है। जो दल अपने बयानों में ही सही, 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' का नाम लेते हैं, उसके प्रति आलोचनात्मक रुख़ अख़्तियार करते हैं, उनको वही पूंजी राजनीति के मैदान से बेदख़ल करने की पूरी कोशिश करती है। यह आंतरिक सत्य आम जन की नज़र में किसान आंदोलन ने ला दिया है, मगर वोट की राजनीति में क्या यह सत्य सही जनवादी बदलाव की दिशा तय कर पायेगा, यह अभी से नहीं कहा जा सकता

हम लेखक, फ़ासीवादी घातक विचारधारा के प्रतिरोध के साझा आयोजन लगातार कर रहे हैं। कोरोना काल में भी हमने सांगठनिक स्तर पर और *नया पथ* के माध्यम से भी इस प्रयास को जारी रखा। यह अंक भी उसी प्रयास की एक कड़ी है। जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय कार्यकारिणी और केंद्रीय परिषद् की बैठक 12 दिसंबर 2021 को नयी दिल्ली में हुई। इस बैठक में भी 30 जनवरी 2022 के दिन दमनकारी सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध दिवस मनाने का फ़ैसला हुआ। यह भी तय हुआ कि फ़ासीवाद के विरुद्ध सांस्कृतिक प्रतिरोध अभियान, लेखकों के जन्मदिन या श्रद्धांजलि-दिवस के रूप में, आगे भी जारी रखा जाये।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

अविस्मरणीय मन्नू जी का स्मरण

मन्नू भंडारी की कहानी यात्रा

चंचल चौहान

मन्नू भंडारी आज हमारे बीच नहीं हैं, पार्थिव शरीर से वे 15 नवंबर 2021 को विदा हो गयीं, मगर उनकी स्मृति शेष है, उनका रचनाशरीर सदैव जीवित रहेगा। मन्नू जी से मेरा परिचय पिछली सदी के सत्तरोत्तरी बरसों के शुरू के दौर में ही हुआ था जब राजेंद्र यादव और मन्नू जी शक्तिनगर के एक मकान में रहते थे। वे परस्पर संवाद का एक अंतरंग प्रोग्राम कभी कभी अपने घर पर रखते थे, जिसमें मैं भी जाता था। वहां भारतभूषण अग्रवाल, श्रीमती निर्मला जैन, स्नेहमयी चौधरी, नित्यानंद तिवारी, अजित कुमार और गोविंद उपाध्याय अक्सर होते थे। दिल्ली यूनिवर्सिटी से इंगलिश में एम ए करने के बाद मैं 1970 में हस्तिनापुर कालेज (सांध्य) में जिसका नाम आपातकाल में बदल कर 'मोतीलाल नेहरू कालेज' कर दिया गया था, लेक्चरर हो गया था। हिंदी में मेरा लेखन पहले से ही प्रकाश में आ चुका था, इसलिए हिंदी में भी एम ए करने की इच्छा हुई, पूरा दिन अपने पास था ही, पढ़ाने का काम तो शाम 6 बजे से शुरू होता था, इसलिए साउथ कैंपस से एम एम (हिंदी) भी कर लिया था। उसी दौर में राजेंद्र यादव से परिचय हो गया था, उनका अपार स्नेह मिलता था, इसलिए घर आना जाना हो गया था, मन्नू जी से वहीं मुलाक़ात होती थी। *हंस* की शुरूआत हुई तो राजेंद्र जी से आफ़िस में मिलना जुलना होता था। राजेंद्र यादव 1982 में जनवादी लेखक संघ के सदस्य बने और केंद्रीय उपाध्यक्ष के रूप में पहले ही सम्मेलन में चुने गये। जलेस केंद्र की ज़िम्मेदारी जब 1984 के वाराणसी सम्मेलन में मेरे ऊपर आ गयी तो यह मिलना जुलना भी बढ़ गया, वे भी जलेस के केंद्रीय कार्यालय आते थे।

नया पथ के प्रकाशन से पहले सव्यसाची ने अपनी पत्रिका *उत्तरगाथा* को दिल्ली से प्रकाशित करने की ज़िम्मेदारी हम लोगों पर डाल दी थी, जिसके संपादक मंडल में एक सक्रिय सदस्य के रूप में मेरी भी भूमिका थी। उसमें एक कालम, 'रचना प्रसंग' शुरू किया था जिसके तहत एक रचनाकार की एक रचना या कई कविताओं को प्रकाशित करके उन पर आलोचनात्मक लेख लिखवाते थे। एक अंक में इसी कालम के तहत मन्नू जी की कहानियों पर चर्चा प्रकाशित की, जिसमें मेरा भी एक लेख शामिल था। उसके बाद इलाहाबाद से सतीश जमाली ने मन्नू जी पर एक लेख अपनी पत्रिका *नई कहानी* के लिए लिखवाया,जो उस पत्रिका के जुलाई 1988 के अंक में छपा। इसे सुधा अरोड़ा ने भी किताबघर से प्रकाशित लेख संकलन, *मन्नू भंडारी: सृजन के शिखर* में शामिल किया।

हर कुशल रचनाकार के रचनाकर्म के पीछे एक जीवनदृष्टि होती है जो उसकी रचना-प्रक्रिया को न केवल प्रभावित, बल्कि उसे अनुशासित भी करती है। रचनाकार उस दृष्टि को सामाजिक विकास की दशाओं के तहत विकसित भी करता है और इस विकास का असर उसके रचनाकर्म में भी झलकता है। जीवनदृष्टि के कुछ पहलू रचनाकार के संस्कार भी बन सकते हैं जिनसे वह कभी कभी मुक्त भी नहीं

हो पाता। ऐसे संस्कार उसके पूरे रचनाकर्म में पिरोये हुए रहते हैं। मन्नू भंडारी की कहानी कला जहां सतत विकास करती रही, वहीं उस कला में कुछ ऐसे संस्कार भी थे जो शुरू से लेकर बाद की उनकी कहानियों में मौजूद रहे। ये संस्कार उनकी कहानी की रचनाप्रक्रिया के हिस्से थे। संस्कारों के इस महत्तम समापवर्त्य पर पहले विचार किया जाये।

मैं हार गयी संकलन की प्रारंभिक कहानियों से लेकर *महाभोज* जैसे उपन्यास तक की रचनायात्रा में मन्नू भंडारी ने एक सच्चाई को संस्कार के रूप में व्यक्त किया; वह सच्चाई यह है कि व्यक्ति रूप में कोई भी इंसान आदर्शीकृत देवता नहीं हो सकता, वह 'पूर्णमिदम्' नहीं हो सकता। उसके भीतर अच्छाइयां और बुराइयां होती हैं, शक्ति और सीमाएं होती हैं। यथार्थ की यह पहचान ही उन्हें आदर्शवाद के ख़िलाफ़ बग़ावत करने वाली लेखिका बनाती है। आदर्शवाद के ख़िलाफ़ बग़ावत ही उनकी रचनायात्रा का महत्तम समापवर्त्य है, उनका संस्कार है। यह संस्कार ही उन्हें अपने विकासक्रम में आलोचनात्मक यथार्थवाद की एक सशक्त लेखिका बना देता है।

मन्नू भंडारी ने अपनी कहानियों में जिन पात्रों का सृजन किया, उन्हें हाड़-मांस का, मानवीय शक्ति और सीमाओं का, गुणों और कमज़ोरियों का जीवंत इंसान बनाया। वे न देवता हैं, न राक्षस, वे हमारी दुनिया के, हमारे आसपास के इंसान हैं। मन्नू जी ने इन इंसानों को आदर्शीकृत करने की परंपरा के ख़िलाफ़ बग़ावत की। जो दुनिया की नज़र में आदर्श बनने का ढोंग रचते हैं, उनकी आत्मा की कालिख को दर्शा दिया। जिन्हें लोगों ने गलाज़तभरा समझा, उनके भीतर छिपी मानवीय गरिमा और संवेदना के रत्नों को उजागर किया। उनके पहले ही संकलन, *मैं हार गयी* में 'ईसा के घर इंसान' शीर्षक कहानी में उन्होंने ईसाई मिशनरी कालेज में प्रचारित नैतिक आदर्शों की विद्रूपता को उघाड़ा। इस कालेज में लूसी और एंजिला जैसी युवतियां क़ैद हैं। मन्नू जी की शुरू के दिनों की यह कहानी ही कलात्मक रचाव की उनकी परिपक्वता का परिचय देती है। मिशनरी कालेज के फाटक के ठीक सामने एक जेल का होना एक अर्थ लिये हुए है। जो लोग मिशनरी कालेज के 'फ़ादर' को, उनके धर्म को एक आदर्श मानते हैं, रत्ना के लिए वे प्रश्नचिह्न हैं। जब उसके साथ की एक अध्यापिका कहती है कि 'यहां के फ़ादर एक अलौकिक पुरुष हैं, एकदम दिव्य', तो रत्ना कहती है कि 'चलिए, मैं नहीं मानती।' कहानी धीरे धीरे फ़ादर की अलौकिकता का पर्दाफ़ाश कर देती है, उसकी आदर्श मूर्ति की असलियत खोल देती है। कहानी के अंत तक कालेज और जेल में कोई फ़र्क़ नहीं रह जाता। एंजिला और लूसी वहां की क़ैद से भाग जाती हैं और तब 'दो दिन बाद ही चर्च और कालेज के चारों ओर की दीवारें ऊंची उठने लगीं और देखते ही देखते चारों ओर ऊंची ऊंची दीवारें खिंच गयीं'।

'गीत का चुंबन' कहानी में भी कुन्नी की नज़रों में निखिल एक आदर्श के रूप में सामने आता है, मगर जब वह एकांत में कुन्नी का चुंबन ले लेता है तो वह उसे 'बदतमीज़' सिद्ध कर देती है। इससे कुन्नी निखिल की नज़रों में एक आदर्श कन्या बन जाती है। मगर कहानीकार ने कहानी के अंत तक उसकी कमज़ोरी भी उजागर कर दी। इन कहानियों में से किसी भी कहानी के पात्रों को मन्नू जी मानवेतर या मानीवय कमज़ोरियों से ऊपर नहीं उठने देतीं। 'जीती बाज़ी की हार' में आशा, नलिनी और मुरला की पहले आदर्श मूर्ति गढ़ कर फिर एक एक की मूर्ति ढहाती जाती हैं, उन्हें देवी से मानवी बना कर छोड़ती हैं। इन कहानियों की हर लड़की एक कमज़ोर लड़की है, हर नारी अपनी संपूर्णता में,

'दोषरहित दूषणसहित' है और हर पुरुष पात्र भी 'गुणदोषमय'। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' में लड़की रूप और लड़का ललित इन्हीं गुणदोषों के कारण मानवीय यथार्थ को व्यक्त करते हैं, वे न तो 'अतिमानव' हैं और न 'लघु मानव'। 'सयानी बुआ' कहानी की वाचिका अपनी बुआ की सुव्यवस्था के आधार पर हासिल की गयी महानता का ख़ाक़ा खींचती है। जब बुआ यह कहती है कि 'यदि वे इस घर में न आतीं तो न जाने भाई साहब (उनके पति) का क्या हाल होता', तो वाचिका इस पर अपनी टिप्पणी करती है कि 'मैं मन ही मन कहा करती थी कि और चाहे जो भी हाल होता, हम सब मिट्टी के पुतले न होकर कम से कम इंसान तो अवश्य हुए होते।' मन्नू जी की इन तमाम कहानियों का संवेदनात्मक उद्देश्य अपने पात्रों को 'मिट्टी के पुतले' न बनाकर 'इंसान' के रूप में चित्रित करना रहा। वे उन्हें एकांगी आदर्शवादिता के प्रतीक या हवाई 'पॉज़िटिव हीरो' नहीं बनातीं। 'अभिनेता' कहानी में रंजना फ़िल्मी लाइन में रहकर भी आदर्श बने रहने की कोशिश करती है। वाचिका के शब्दों में, 'रंजना यों फूंक फूंककर पांव रखती और ऐसे साफ़ दिल से रहती कि हलकी से हलकी गंदी छींट भी उसे छूने से खुद झिझकती।' मगर रंजना का यह 'साफ़ दिल' दिलीप के चक्कर में फंस जाता है क्योंकि दिलीप भी रंजना से आदर्शों की बात करता है। वह कहता है, 'प्रेम की एकांतिकता में मेरा बड़ा दृढ़ विश्वास है। तुम चाहे मुझे दक़ियानूस कहो या पुराणपंथी, पर लैला-मजनूं का प्रेम ही मेरे प्रेम का आदर्श है।' मगर मन्नू जी इस आदर्श प्रेमी की मूर्ति बड़े ही कलात्मक ढंग से तोड़ देती हैं। यह प्रेमी शादीशुदा और एक बच्ची का बाप निकलता है और प्रेम तो उसका 'बिज़नेस' है जिसके द्वारा वह देहरादून की रेखा को भी, आदर्श प्रेमी होने का नाटक करके ठग चुका है। मन्नू जी की 'अभिनेता' कहानी जहां कला की दृष्टि से बेहतरीन कहानी है वहीं उसमें आलोचनात्मक यथार्थवाद के विकास की पहली मंज़िल का संकेत भी है। प्रेम जैसे मानवमूल्य का अवमूल्यन लाभलोभ पर आधारित मौजूदा समाज व्यवस्था के कारण ही होता है। दिलीप के लिए प्रेम भी रुपया कमाने का साधन बन जाता है।

लाभलोभ पर आधारित यह समाज व्यवस्था प्रेम-संबंधों को कितना विकृत कर देती है इसकी एक अन्य झलक 'कील और कसक' शीर्षक कहानी में मिलती है। कैलाश की पत्नी रानी अपने पति की प्रेस की नौकरी और उसकी हाड़तोड़ मशीनी ज़िंदगी के कारण जीवन के सुखद क्षणों को नहीं भोग पाती, उसके तमाम सपने टूटते हैं और वह शेखर को अपना आदर्श मानकर उससे प्रेम करने लगती है। कैलाश के बारे में वाचक कहता है :

> चौबीसों घंटे प्रेस की मशीनों के बीच काम करते करते कैलाश स्वयं एक मशीन बन गया था, भावहीन, रसहीन। उसे न रानी में दिलचस्पी थी, न घर में। क़र्ज़ का भूत कोड़े लगा लगाकर उससे काम करवाता था।

शेखर का विवाह हो जाने पर रानी के रहे सहे सपने भी टूट जाते हैं और वह ईर्ष्यालु तथा झगड़ालू औरत बन जाती है। अंत में, कैलाश को मकान ही बदलना पड़ता है, मगर रानी का मन फिर भी शेखर में ही उलझा रहता है और बिछड़ने की कसक वह महसूस करती है। भावनात्मक स्तर के इस यथार्थ को मन्नू जी ने बहुत ही कलात्मक ढंग से आलोचनात्मक यथार्थवाद की ओर मोड़ दिया।

यथार्थ के इसी परिप्रेक्ष्य को मन्नू जी ने 'दो कलाकार' और 'मैं हार गयी' कहानियों में भी अपनाया है। आदर्शों के ख़िलाफ़ बग़ावत का स्वर आलोचनात्मक यथार्थवाद और सामाजिक सरोकार में विकसित होने लगा। 'दो कलाकार' की अरुणा समाजसेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बनाती है, तो

उसकी मित्र चित्रा चित्रकला को। अरुणा उसकी कला के बारे में कहती है, 'किस काम की ऐसी कला जो आदमी को आदमी न रहने दे।' वह प्यार से 'कला कला के लिए' सिद्धांत पर चलने वाली चित्रा को डांटती है :

> तुझे दुनिया से कोई मतलब नहीं, बस चौबीस घंटे अपने रंग और तूलियों में डूबी रहती है, दुनिया में बड़ी से बड़ी घटना घट जाये, पर यदि उसमें तेरे लिए कोई आइडिया नहीं तो तेरे लिए वह घटना कोई महत्व नहीं रखती।

मानवीय सरोकार के बग़ैर कला निरर्थक होती है। इस थीम को, मन्नू जी ने बड़े ही कलात्मक ढंग से इस कहानी में निभाया है। चित्रा को जिस चित्र से विश्वभर में ख्याति मिली, वह उन मां-रहित अनाथ बच्चों का ही चित्र था, जिन्हें अरुणा ने अपने बच्चों की तरह पाला था। इसका रहस्य कहानी के आख़िर में खुलता है। यह कहानी अर्थों के कई आयाम समेटे हुए है। ये आयाम सौंदर्यशास्त्रीय और सामाजिक अर्थवत्ता के भी हो सकते हैं। 'मैं हार गयी' कहानी भी इसी तरह मन्नू जी की रचनाप्रक्रिया में छिपे आलोचनात्मक यथार्थवाद के बीजरूप का साक्षात्कार कराती है।

मन्नू जी की कहानियों का संकलन, *तीन निगाहों की एक तस्वीर*, उनकी रचनायात्रा की अगली कड़ी है। संकलन की शीर्षक कहानी जो सबसे पहले दी गयी है, दर्शना के जीवन की करुण तस्वीर है जिसे तीन निगाहों से सिरजा गया है। ये निगाहें क्रमशः नैना की, एक कहानीकार हरीश की और एक खुद दर्शना की है। इस कहानी में भी अर्थों की अनेक संभावनाएं छिपी हैं। उसे फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र के आधार पर देखा जा सकता है, उसमें टी ई ह्यूम के इस निष्कर्ष की छाया देखी जा सकती है कि 'व्यक्तित्व बाह्य रूपों की एक शृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।' उसमें समाज के भीतर अवशिष्ट सामंती मूल्यों की जकड़न में फंसी नारी की करुण झलक देखी जा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी में भी जर्जर सामंती आदर्शवाद के ख़िलाफ़ बग़ावत का स्वर है। इस आदर्शवाद ने कभी नारी को यह सिखाया था कि

> वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना /अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
> ऐसेहु पति कर किये अपमाना / नारि पाव जमपुर दुख नाना।
> एकहि धरम एक ब्रत नेमा / कायं वचन मन पति पद पेमा।
>
> (*रामचरितमानस*, अरण्यकांड, अनुसुइया-सीता संवाद)

मन्नू जी की दर्शना इस आदर्शवाद के ख़िलाफ़ बग़ावत करती है और कड़वा ज़हर पीकर अपनी ज़िंदगी जीती और अपनी मौत मरती है।

संकलन की दूसरी कहानी, 'अकेली' की सोमा बुआ के अकेलेपन का कारण वे सामंती संस्कार हैं जिनकी वजह से उनके पति संन्यासी हो जाते हैं और बुआ 'मरदवाली होकर भी बेमरद हो जाती हैं'। नाते-रिश्तेदार बदलते हुए आर्थिक संबंधों के कारण उन्हें नहीं बुलाते क्योंकि नये संबंधों के आधार पर तो 'सर्वे गुणा कांचनमाश्रयंति' पर विश्वास किया जा रहा है। धन के अभाव में उनकी पहचान का खो जाना स्वाभाविक ही है। 'अनचाही गहराइयां' कहानी में तथाकथित सामाजिक समानता के आदर्श की कलई खोली गयी है। कहानी में शिवनाथ जैसे प्रतिभाशाली लड़के कालेज में दाख़िला लेकर नहीं पढ़ सकते। कालेज की महिला प्रिंसिपल के शब्दों में, 'वे बड़े प्रतिभाशाली हैं...ब्राइट हैं...पर बड़े ग़रीब, बड़े बेबस!' वे बच्चों की मदद करना चाहती हैं, मगर कहती हैं, 'मैं

जानती हूं कि हम में से कोई भी ऐसी स्थिति में नहीं, जो किसी का आर्थिक भार उठा सके, फिर भी कुछ मदद तो हम कर ही सकती हैं।' सुनंदा अपने आदर्शवाद के कारण सबसे पहले तैयार हो जाती है और कहती है, 'अपने लिए जीवित रहना भी कोई ज़िंदगी है!' सुनंदा शिवनाथ को पढ़ाती है किंतु उसकी आदर्शवादिता, निर्णय की एक भूल के कारण, ढह जाती है जिसकी परिणति शिवनाथ की आत्महत्या में होती है। अपने आदर्शों के चलते भी वह हत्यारिन होने का अपराधबोध महसूस करने लगती है।

'खोटे सिक्के' कहानी तक मन्नू भंडारी की कहानी-कला आलोचनात्मक यथार्थवाद के विकास की काफ़ी आगे बढ़ी हुई अवस्था तक पहुंच जाती है। पर्यटक छात्राओं को मैनेजर खन्ना साहब टकसाल की मशीनें और ढलते सिक्के दिखाते हैं। खोटे सिक्कों के बारे में खन्ना साहब अपना आदर्श बघारते हैं, 'जी नहीं, खोटे सिक्कों को हम चला नहीं देते, वापस टकसाल में ही खपाते हैं, जो चीज़ हमारी टकसाल में खोटी होती है, उसकी ज़िम्मेदारी तो हमारी है, उसे बाहर क्यों भेजेंगे भला?' वाचिका अपनी टिप्पणी करती है, 'खन्ना साहब ने इस ढंग से कहा मानो बता रहे हों, देखो हमारी नैतिकता को! हमें क्या गया गुज़रा समझा है कि अपनी ग़लती को दूसरों के सिर मढ़ दें?' इस टिप्पणी की आयरनी कहानी के अंत में उजागर होती है जब वही खन्ना साहब टकसाल में उस मज़दूर की पत्नी को झिड़कते हैं जिसकी दोनों टांगें टकसाल में ड्यूटी देते वक़्त कट गयी थीं, जो खोटे सिक्के की तरह कहीं खपने लायक़ नहीं रह गया था। ऊपर की नैतिकता को इस झिड़की के प्रकाश में देखिए, 'नौकरी में टांग कट गयी तो मुआविज़ा नहीं मिल गया दो सौ रुपये? अब क्या जागीर लिख दूं उसके नाम? चपरासी, बाहर निकालो इसे।' अर्थों के कई आयाम छिपाये यह कहानी खन्ना साहब की आदर्शवादिता का ही पर्दाफ़ाश नहीं करती, इस पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था पर भी चोट करती है जिसमें धनदौलत का निर्माण करने वाले ही बदहाली के शिकार होते हैं। कल्याणराज्य का आदर्श ओढ़ने वाली इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ बग़ावत का यह स्वर आलोचनात्मक यथार्थवाद की उस विश्वपरंपरा का हिस्सा है जो समाजवादी यथार्थवाद का अभिन्न अंग बन जाती है।

इस व्यवस्था की झूठी आदर्शवादिता का नज़ारा मन्नू जी की 'घुटन' कहानी में भी मिलता है। मोना की कमाई पर उसकी मां और परिवार इस तरह निर्भर हैं कि मां अपनी बेटी को शादी करने तक की इजाज़त नहीं देती। वाचिका कहती है कि 'घर की समस्या, भाई-बहनों की समस्या के आगे उसका अपना व्यक्तित्व सौ सौ बार हार चुका है। वह रात रात रोती है, दिन दिन घुलती और घुटती है, पर इसके आगे कुछ नहीं।' प्रेम जैसे मानव मूल्य का आदर्श बदलते आर्थिक संबंधों की चपेट में आकर छिन्न भिन्न हो जाता है। यह संबंध चाहे मां-बेटी का हो, या अविवाहित मोना और अरुण का अथवा विवाहित प्रतिभा और उसके पति का, वह अब सिर्फ़ एक घुटन का पर्याय बन गया है।

समाज में आ रहे परिवर्तन पीढ़ियों के अंतराल को भी जन्म देते आये हैं और ऐसी हालत में बड़े-बूढ़ों की स्थिति भी मजबूरी और अकेलेपन में बदल जाती है। मन्नू जी की 'मजबूरी' कहानी में रामेश्वर की अम्मां का अकेलापन, बेटू के प्रति उनका लगाव और उसके दूर हो जाने की मजबूरी के बीच फंसी उनकी जान इसी तरह की करुणा जगाती है जिस तरह भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत' की मां। यथार्थ के इन पहलुओं को चित्रित करने की कला ही मन्नू जी को एक सशक्त रचनाकार बनाती

है। मन्नू जी की कलात्मक विविधता का प्रमाण हमें उनकी 'चश्मे' कहानी में मिलता है। यह कहानी चेतनाप्रवाही शैली को समाहित करके अपने में अलग तरह की कहानी है। मिसेज़ वर्मा की कहानी और मि. निर्मल वर्मा की चेतना में बसी उनकी अपनी निजी जीवन की कहानी का समानांतर प्रवाह जहां कलात्मक रचाव की परिपक्वता का परिचय देता है, वहीं थीम के स्तर पर आदर्शों के विरुद्धों को दर्शाकर यह रचना कहानियों के कई आयाम खोलती है। फांसी की सज़ा प्राप्त क्रांतिकारी क़ैदी से विवाह करने को तैयार लीला का आदर्श एक ओर है, तो मरणासन्न शैल से प्यार का झूठा आदर्श बघारने वाले मि. वर्मा की विवाह करने से मुकर जाने की मिसाल दूसरी ओर। पुरुष की दुहरी नैतिकता के ख़िलाफ़ यह कहानी बग़ावत करती है।

मन्नू भंडारी के कहानी संकलन, *यही सच है* की कहानियों में भी हमें या तो इस व्यवस्था के भीतर की आदर्शवादिता, चाहे वह सामंती मनोवृत्ति से उत्पन्न हुई हो या पूंजीवादी आधुनिकतावादी चेतना से उपजी हो, के ख़िलाफ़ विद्रोह का स्वर मिलता है या फिर आलोचनात्मक यथार्थवाद का और अधिक विकसित स्वरूप सामने आता है। संकलन की 'तीसरा आदमी', 'यही सच है' 'नक़ली हीरे', 'इनकमटैक्स और नींद' थोथी आदर्शवादिता के ख़िलाफ़ बग़ावत करती हुई कहानियां हैं; जबकि 'क्षय', 'नशा', 'रानी मां का चबूतरा' इस व्यवस्था के भीतर टूटते और अमानवीय ज़िंदगी जीने वाले इंसानों की दुखगाथा द्वारा आलोचनात्मक यथार्थवाद को व्यक्त करने वाली रचनाएं हैं। 'तीसरा आदमी' की शकुन सामंती आदर्शवादिता के ख़िलाफ़ बग़ावत करती है, जबकि उसका पति सतीश इसी आदर्शवादिता के शिकंजे में कसा होने के कारण हीनभावना का शिकार है। 'नक़ली हीरे' में पूंजीवादी सभ्यता द्वारा पैदा की गयी चमक दमक का, उस आधुनिकतावादी आदर्शवाद का ख़ाक़ा खींचा गया है जिसका प्रतिनिधित्व रईसी ठाठबाट वाली महिला सरन करती है। मगर उसकी बहन इंदु के लिए यह चमक दमक किसी काम की नहीं, इसकी जगह उसके लिए मानवीय प्रेम कहीं अधिक मूल्यवान है। मन्नू जी ने विरुद्धों के इस पैटर्न (इंदु और सरन, हीरे और इंदु के पति के पत्र) द्वारा महाजनी सभ्यता की कलई उतार दी है। 'इनकम टैक्स और नींद' में भी इसी तरह का पैटर्न है। पुराने विचारों वाले होम्योपैथ डाक्टर दयाल झूठी शान और आदर्शवादिता बघारते हैं, जबकि भतीजी महिमा नये विचारों की ऐलोपैथ डाक्टर है। यह कहानी पुराने खोखले विचारों और सड़े गले आदर्शों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद करती है और स्वस्थ नवीन विचारों को प्रोत्साहित करती है।

संकलन की शीर्षक कहानी, 'यही सच है' समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में काफ़ी चर्चा का विषय रही है। इस कहानी में भी अर्थ की अनेक संभावनाएं समाहित हैं। इसे फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र के माध्यम से व्याख्यायित किया जा सकता है, इसमें अस्तित्ववादी क्षणवाद खोजा जा सकता है। इसे बदलते नैतिक मूल्यों की कसौटी पर कसा जा सकता है। मगर सच यही है कि इस कहानी में भी थोथी सामंती आदर्शवादिता के ख़िलाफ़ विद्रोह का एक स्वर है। अंग्रेज़ी नाटककार आर्नल्ड वैस्कर ने जिस तरह अपने नाटक 'चार ऋतुएं'(फ़ोर सीज़ंस) में एडम और बियेट्रिस के प्यार के प्रस्फुटन, विकास, और परिवर्तन को लक्षित किया है, उसी तरह मन्नू जी ने भी अपनी कहानी में प्यार को अपरिर्वतनीय भावना न बनाकर उसमें आये परिवर्तन व तनाव को बख़ूबी चित्रित किया है। कहानी में प्यार रजनीगंधा के फूल की ही तरह है। दीपा का प्रेमी 'फूलदान के पुराने फूल फेंक देता है और नये

फूल लगाता है।' दीपा भी अपने मन के फूलदान में कभी संजय को सजाती है, कभी निशीथ को। देश और काल में परिवर्तन आने से प्यार में भी परिवर्तन हो जाता है। यहां न प्यार स्थायी है और न नफ़रत। कलकत्ता में दीपा के लिए निशीथ का 'स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाक़ी सब झूठ है...' तो कानपुर में संजय के अधरों का 'स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है।' परिवर्तन की इस सच्चाई को रेखांकित करना ही इस कहानी का संवेदनात्मक उद्देश्य है।

इस संकलन की इन कहानियों में जहां पुराने नैतिक आदर्शों के ख़िलाफ़ बग़ावत है, वहीं इसकी कुछ कहानियों में शोषण पर आधारित इस समाज की, इस व्यवस्था की आलोचना भी है। 'क्षय' कहानी में कुंती को घर की आर्थिक हालत तोड़ती है, उसके क्षयग्रस्त पिता भी उसके लिए एक समस्या बन गये हैं, उसे मालदार घर की बेटी सावित्री को ट्यूशन तो पढ़ाना ही पड़ता है, साथ ही एक नौकरानी की तरह बेगार भी करनी पड़ती है। आर्थिक विषमता का यह नज़ारा ही तो पेश करती है यह कहानी। इस तरह 'एखाने आकाश नाइ' भी हमारे समाज की, हमारी धरती की सच्चाई सामने लाती है। आदमी आशाओं के आकाश में कब तक जी सकता है? कलकत्ता के मध्यवर्गीय जीवन को बिताने वाली लेखा हवा बदलने के ख़याल से पति के आग्रह पर जब अपने सास-ससुर के पास जाती है तो वहां अपने पति के परिवारजनों, सुरेश और गौरा के सपनों पर पानी फिरते देखती है और सामंती आदर्शवादिता में फंसे सास-ससुर को देखती है तो दुखी होती है।

'सज़ा' कहानी में भी हमें आलोचनात्मक यथार्थवाद की एक सशक्त रचना की संभावनाएं दिखायी देती हैं। पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था के भीतर न्यायपालिका के थोथे आदर्श पर यह कहानी एक बड़ा तमाचा रसीद करती है। वाचिका के पप्पा पर पांच साल केस चलता है तब जाकर वे बरी होते हैं। वाचिका के मामा के शब्दों में, 'आज के ज़माने तो गुनहगार अपने को साफ़ बचाकर ले जाते हैं, लाखों हज़म करके मूंछों पर ताव देते घूमते हैं, फ़ाइलें ग़ायब करवा देते हैं और एक ये हैं कि बिना गड़बड़ किये जेल भोग रहे हैं।' पांच साल के दौरान वाचिका के परिवार ने अंतहीन आर्थिक आपदाएं, बीमारी की विपदाएं झेलकर टूटन और घुटन की ज़िंदगी जी, यह सारी सज़ा पूरे परिवार ने भोगी जबकि इसका भागीदार कोई होना ही नहीं चाहिए था। सज़ा की यह करुण गाथा आलोचनात्मक यथार्थवाद का एक उत्कृष्ट नमूना है।

मन्नू जी की 'नशा' कहानी भी इसी कोटि की रचना है। शंकर का अमानवीकरण और आनंदी की आत्मीयता का यह द्वंद्व भी हमारी सामाजिक सच्चाई का एक हिस्सा है। 'रानी मां का चबूतरा' में गुलाबी की ग़रीबी का हृदयविदारक चित्र भी हमारे देश की जनता की बदहाली के यथार्थ को प्रस्तुत करता है और इस समाज व्यवस्था पर चोट भी। अपने बच्चे के प्राण देने वाली रानी मां और गुलाबी के मानवीय संवेदन एक-से ही हैं। नगर-सेठ की पत्नी रानी मां और असहाय तथा समाज की मार से पीड़ित कर्कश ग़रीबन गुलाबी की आर्थिक अवस्था में ज़मीन-आसमान का अंतर है। यह समाज पैसे वाली स्त्री रानी मां को देवी मानता है और ग़रीबन को राक्षसी। इस कहानी की आयरनी इसी आर्थिक विषमता को उभारने में छिपी है।

मन्नू जी की रचनायात्रा में, *एक प्लेट सैलाब*, कहानी संग्रह एक भिन्न तरह का पड़ाव है। अभी तक विश्लेषित संग्रहों की कहानियों में जहां यथार्थ के अनेक आयाम सामने आये थे, मगर एक

प्लेट सैलाब की कहानियों में कलात्मक रचाव और नयी कहानी के भीतर की अस्तित्ववादी धारा की थीमों के चुनाव का अतिरिक्त आग्रह झलकता है। इन कहानियों में सामंती आदर्शवादिता के ख़िलाफ़ बग़ावत तो है, मगर इनमें आधुनिकतावादी आब्सैशन से आलोचनात्मक यथार्थवादी नज़रिया ब्लर्ड हो उठा है। सामंती आदर्शों के ख़िलाफ़ आया सैलाब यहां एक प्लेट तक ही सीमित रह गया है। इन कहानियों की उपलब्धि यह है कि इनमें कलात्मक परिमार्जन और अधिक हुआ है, मगर पहले वाले बहुआयामी यथार्थ का फलक संकुचित होकर मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुष संबंधों और टूटन, उनके अकेलेपन, संत्रास, आत्मनिर्वासन, ऊब और अस्मितालोप तक ही सीमित रह गया है। इसके लिए मन्नू जी दोषी नहीं हैं। यह वही दौर है जब हमारे समाज में मध्यवर्ग के सपने सचमुच टूट रहे थे, उसकी अस्मिता ख़तरे में पड़ने लगी थी और वह यह नहीं जानता था कि वह क्या करे। मुक्तिबोध जैसे विरले ही रचनाकार थे जो यह संदेश दे रहे थे कि मध्यवर्ग की मुक्ति सर्वहारावर्ग का साथ देने से होगी, नहीं तो इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग के रूप में बड़ी मछली मध्यवर्ग की छोटी मछलियों को निगल जायेगी। ऐसी स्थिति में, यानी मोहभंग की और विकल्पहीनता की स्थिति में, साहित्य में टूटन, अकेलेपन और ऊब, संत्रास व अस्मितालोप की कहानियां ही लिखी जा सकती थीं। इनसे मुक्ति तो तभी होती है जब मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी यह महसूस करने लगते हैं कि शोषण पर आधारित मौजूदा पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था से मुक्ति संपूर्ण शोषित समाज जिसमें मध्यवर्ग भी शामिल है, को साथ लेकर सर्वहारावर्ग ही दिला सकेगा क्योंकि आज के युग में यह दायित्व उसी पर है। यह अहसास मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को नहीं था, इसलिए आधुनिकतावादी कहानियां उस दौर में ज़्यादा लिखी जा रही थीं। *एक प्लैट सैलाब* की ज़्यादातर कहानियों में लोग अकेलेपन, टूटन, ऊब आदि के शिकार हैं, अस्तित्ववादी मुहावरे में टूटना और अकेले पड़ जाना उनकी नियति है। संकलन की 'नयी नौकरी' कहानी में रमा के पति कुंदन आधुनिक मध्यवर्ग में जब रूपांतरित हो रहे होते हैं तो रमा को अकेलेपन का शिकार बना देते हैं। उसकी अस्मिता का भी लोप हो जाता है। 'बंद दराज़ों के साथ' कहानी में मंजरी अपने ही घर में बहुत अकेली हो उठती है, अपने पति विपिन से अलग होकर वह और भी अकेली हो जाती है। वह कहती है :

> इस युग में आशा करना ही मूर्खता है, क्योंकि आज ज़िंदगी का हर पहलू, हर स्थिति और हर संबंध एक समाधानहीन समस्या होकर ही आता है जिसे सुलझाया नहीं जा सकता है, केवल भोगा जा सकता है, जिसमें आदमी निरंतर बिखरता और टूटता चलता है।

एकाएक मंजरी को बहुत बहुत अकेलापन लगने लगता है। इस तरह पूरी कहानी अकेलेपन और टूटन की थीम को लेकर चलती है। 'एक प्लेट सैलाब' कहानी में मध्यवर्गीय ऊब का चित्र है। 'पुरुष अपने एयरकंडीशंड चैंबरों से थककर और औरतें अपने अपने घरों में ऊबकर' गेलार्ड में पहुंचते हैं, वहां 'गांधीजी के अनुयायी' भी बैठे हैं, 'मिरैंडियंस' भी बैठी हैं, अपने घर से ऊबी हुई मिसेज़ रावत भी।

'एक बार और' कहानी की बिन्नी अपने प्रेमी कुंज से मिलकर नैनीताल से वापस आ जाती है तो अपने भीतर टूटती है और अकेली हो जाती है, उसके भाई का मित्र चंदन जब कलकत्ता से आता है तो वह भी उसके अकेलेपन की दवा नहीं कर पाता। अपने अस्मितालोप की थीम को वह कुंज के शब्दों में व्यक्त करती है, 'हम उस अभागी पीढ़ी के हैं, बिन्नी, जो नये विचारों और नयी भावनाओं को जन्म देने में हमेशा ही खाद बन जाती हैं।' मन्नू जी की 'बांहों का घेरा' कहानी में कम्मो अपने

अकेलेपन से उबरने के लिए किसी की बांहों का घेरा चाहती है, जबकि उसके पति मित्तल अपने व्यवसाय में, लाभ-हानि की दुनिया में इतने मस्त हैं कि वे सारी मानवीय संवेदनाएं खो बैठे हैं। अंग्रेज़ी कवि टी. एस. एलियट की कविता, 'द वेस्टलैंड' की आधुनिक क्ल्योपेट्रा की तरह उसकी तमाम कोमल भावनाओं पर पानी फिरता रहता है। वह सिर्फ़ यादों के सहारे जीती है। उसकी दमित भावनाएं शम्मी और उसके होने वाले पति इंदु के आने और मिलने से और अधिक उभर आती हैं। अंत तक वह अपने बच्चे की बांहों के घेरे में खुद को कसकर ही तृप्ति पाती है। इसी तरह 'कमरे, कमरा और कमरे' कहानी की नीलू भी धीरे धीरे अनेक कमरों में बैठी हुई ज़िंदगी से ऊबकर एक कमरे के अकेलेपन की ज़िंदगी में सिमट जाती है और जब इस अकेलेपन को तोड़ने के लिए वह एक व्यवसायी श्रीनिवास से शादी कर लेती है तो अपनी अस्मिता का लोप ही कर लेती है। रचनाकर्म की प्रतिभा द्वारा उसकी जो अस्मिता बनी थी, वह संदूक में बंद करके कोठी की छत पर पहुंचा दी जाती है।

इस संकलन की 'ऊंचाई' कहानी आधुनिकतावादी रुझान की एक ऊंचाई तक पहुंचा कर मन्नू जी को उन पहाड़ों से नीचे उतार लाती है जहां से निर्मल वर्मा शायद कभी नहीं उतरे, बल्कि वहीं 'अंधगुहावासी' हो गये। 'ऊंचाई' कहानी में शिवानी अपने पति और पिछले प्रेमी की दो नावों पर चलने का तनाव झेलती है और अंत में सामंती नैतिकता की जकड़ से अपने पति को मुक्त करके नयी नैतिकता की ऊंचाई पर पहुंचती है। इस तरह स्वयं भी तनाव से मुक्त होकर स्वस्थ ज़िंदगी की ज़मीन पर उतर आती है जहां वह अपनी थकान मिटाती है।

एक प्लेट सैलाब, संकलन की कुछ कहानियां पहले से विकसित हो रहे आलोचनात्मक यथार्थवाद की धारा की कहानियां भी हैं। मसलन, 'छत बनाने वाले', 'संख्या के पार' आदि में सामंती मूल्यव्यवस्था और थोथे आदर्शों की आलोचना है और कुछ कहानियों में नवधनाढ्य वर्ग द्वारा विकसित किये जा रहे जर्जर पूंजीवादी मूल्यों के प्रति आलोचनात्मक रवैया अख़्तियार किया गया है।

त्रिशंकु संकलन की कहानियां इसी आलोचनात्मक स्वर को और अधिक सशक्त बनाती हैं और मन्नू जी की रचनायात्रा को सामाजिक सरोकारों की ओर मोड़ती हैं। इस संकलन की पहली कहानी, 'आते-जाते यायावर' मध्यवर्ग द्वारा अपनाये गये नये किंतु साम्राज्यवादी पतनशील मूल्यों के प्रति आलोचनात्मक स्वर सामने लाती है। नरेन जो कि अज्ञेय सरीखा यायावर है मिताली पर 'अमरीकी लटका' चलाना चाहता है। मिताली सतर्क रहते हुए भी विचलित होती है, हालांकि वह जानती है कि 'यह अमरीका नहीं है'। इस यायावर को वह मन ही मन 'अमरीका की दुम कहीं का' कहकर भी कहीं न कहीं उसके प्रति लगाव महसूस करती है। यायावर चला जाता है और वह उसकी नयी भ्रष्ट मूल्यव्यवस्था का शिकार होने से बच जाती है। 'दरार भरने की दरार' कहानी में इस नयी मूल्यव्यवस्था की चपेट में आते आते श्रुति दी बच जाती हैं और समय रहते वे अपने पति से संबंध सुधार लेती हैं। 'स्त्री सुबोधिनी' कहानी तो स्पष्ट तौर पर ही नयी भ्रष्ट मूल्यव्यवस्था के शिकार होने से आगाह करने के उद्देश्य से लिखी गयी कहानी है। 'शायद' कहानी में जहां जहाज़ पर काम करने वाला राखाल अपनी बच्ची रीना को भ्रष्ट सामंती मूल्यों का शिकार होने से बचा लेता है, वहीं 'त्रिशंकु' कहानी में तनु की मां तनु को नयी पूंजीवादी मूल्यव्यवस्था के स्वस्थ पक्ष तक ही आगे बढ़ने देती हैं, उसे भ्रष्ट पक्ष से बचाने की वे लगातार कोशिश करती हैं। तनु के रूप में नयी पीढ़ी यह नहीं समझ पा

रही कि मां के भीतर छिपे 'नाना' यानी अतीत और वर्तमान से कैसे लड़े? मन्नू जी की समझ यहां यथार्थवादी है क्योंकि वे अतीत और वर्तमान के रिश्ते को इस आधार पर चित्रित करती हैं कि दोनों के स्वस्थ अंशों को स्वीकारा जाये और जो पतनशील और भ्रष्ट है उसका शिकार न हुआ जाये। ऐसा आधार ग्रहण न करने से ही त्रिशंकु की हालत होती है जो न ज़मीन का रह जाता है और न आसमान का।

मन्नू भंडारी की रचनायात्रा का यह स्वस्थ विकास ही उन्हें सामाजिक सरोकार की कथालेखिका बना देता है जिसे हम उनकी 'अ-लगाव' कहानी में देखते हैं जिसका विस्तार *महाभोज* उपन्यास में हुआ। *महाभोज* की भूमिका में मन्नू जी ने लिखा :

> अपने व्यक्तिगत दुख-दर्द, अंतर्द्वंद्व या आंतरिक 'नाटक' को देखना बहुत महत्वपूर्ण, सुखद और आश्वस्तिपरक तो मुझे भी लगता है, मगर जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ़ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता?

बहिर्जगत के संघर्षों में जगी मन्नू जी की यह रुचि निश्चय ही स्वागतयोग्य है।

तानाशाही ताक़तों की 'शराबी' राजनीतिक सत्ता को परास्त करके ऐमर्जैंसी के बाद 'संपूर्ण क्रांति' की गुहार लगाती जो 'पेशाबी' राजनीतिक सत्ता वजूद में आयी थी, उसने भी उन्हीं वर्गों का यानी पूंजीवादी सामंती वर्गों का ही हित-साधन किया था जो हमारे समाज के शोषकशासक वर्ग कहे जाते हैं, इसीलिए उन नये सत्ताधारियों ने भी ग़रीबों के खून का 'महाभोज' किया था। मन्नू जी 'अ-लगाव' कहानी और *महाभोज* उपन्यास का यही कथ्य है। ग़रीब बिसेसर को तानाशाही सरकार ने ऐमर्जैंसी में बिना मुक़दमा चलाये जेल में सड़ाया था तो उनकी जगह आयी दा साहब की सरकार के गुर्गों ने उसकी हत्या ही कर दी। उपन्यास में दा साहब के खोखले आदर्शों का पर्दाफ़ाश तब होता है जब बिसेसर की हत्या का आरोप उसके अभिन्न मित्र बिंदा पर लगा दिया जाता है और असली क़ातिल साफ़ बचा लिया जाता है। शोषक-शासक वर्गों की काली करतूतों और उनके घिनौने स्वार्थों का भंडाफोड़ करने वाला यह उपन्यास निश्चय ही हिंदी के यथार्थवादी साहित्य की एक उपलब्धि है। यह उपन्यास लगता है आज के यथार्थ पर भी जैसे रोशनी डालता हो।

मन्नू भंडारी की रचनाशीलता की यह नयी पगडंडी जो बहिर्जगत के यथार्थ की ओर मुड़ी तो उन्होंने शोषण पर आधारित हमारे समाज की विद्रूपताओं को और अधिक विश्वसनीय और कलात्मक यथार्थ-चित्रण द्वारा सामने लाकर हिंदी कथा-साहित्य को और अधिक समृद्ध किया और एक महान कलाकर के सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया। आज देश के शोषक-शासक वर्गों को यथार्थ से सर्वाधिक भय लग रहा है। समाज में यथार्थ को चित्रित करने वाले हर कलाकार द्वारा सिरजी हुई भोली -भाली करुणा भी कम क्रांतिकारी नहीं होती, बल्कि वह खूनी शोषकों के लिए क़ब्र खोदती है।

ऐसी चेतना संपन्न मन्नू जी की स्मृति को शतश: नमन।

मो. 9811119391

मन्नूजी : वह सौम्य दृढ़ता

विभास वर्मा

मन्नूजी नहीं रहीं। यह समाचार सुनते ही एक अवसाद ने जैसे घेर लिया। लंबे समय से चली आ रही अस्वस्थता के कारण बार-बार सक्रिय हो पाने की उनकी कोशिशें सफल नहीं हो पा रही थीं। नयी कहानी में अपनी शालीन उपस्थिति के साथ उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य में जिस नारी-स्वर का प्रवेश कराया वह बग़ैर किसी शोर-शराबे या किसी भी अपराधबोध से मुक्त होकर दृढ़ता से अपनी बात कह सकने की नयी भंगिमा से लबरेज़ स्वर था। उनका सारा व्यक्तित्व इस सौम्य दृढ़ता का उदाहरण था। बिना किसी प्रचार के उन्होंने जितनी बार अपने जीवन में विद्रोह किये या अस्वीकार का साहस दिखाया, वह कम ही दिखता है। आज़ादी के आंदोलन में छात्र-जीवन में उनकी सक्रियता के लिए उनके पिता के एक 'धनी प्रतिष्ठित पर बेहद दक़ियानूसी' मित्र ने उनके पिता को धिक्कारते हुए मन्नूजी की शिकायत लगायी थी, 'मन्नू की मत तो मारी गयी है पर तुम्हें क्या हुआ है भंडारीजी- सोचो ज़रा सारे दिन लड़कों के साथ हाथ उठा-उठाकर नारे लगाती, सारे शहर की सड़कें नापती, अपने घर की लड़कियां अच्छी लगती हैं क्या?' पर पिता के अभिन्न मित्र और अजमेर के प्रसिद्ध समाजसेवी डॉ. अम्बालालजी ने आकर पिता से कहा कि 'क्या भाषण दिया था कल मन्नू ने...तुमको वहां होना चाहिए था भंडारीजी- देखते तो अपनी बेटी का कमाल... आइ एम रीअली प्राउड ऑफ़ हर'। मन्नू जी के लेखन से जो उनकी छवि दिखती है उससे यह लड़कों के साथ घूमती, नारे लगाती, भाषण देती युवती की छवि अलग दिखती है पर उनके अपने ही शब्दों में, '...सन् 46-47 की स्थितियां- उनमें घर में बैठे रहना संभव था भला? प्रभात-फेरियां, हड़तालें, जुलूस भाषण हर शहर का चरित्र था और पूरे दम -ख़म और जोश-ख़रोश के साथ इन सबसे जुड़े रहना हर युवा का उन्माद। उन दिनं रगों में लहू नहीं, लावा ही बहता था जैसे।' अपने पिता पर लिखा उनका यह संस्मरण उनके जीवन के कई अनजाने पहलुओं को उजागर करता है। उनके बाद के जीवन के फ़ैसलों के पीछे रगों में बहते लावे वाली यह युवती ही कहीं थी ऐसा लगता है। वह चाहे अपनी शादी का फ़ैसला हो या शादी के कई सालों के बाद भी उस शादी को परे सरकाकर अपनी गरिमा और शालीनता के साथ जीवन जीने का फ़ैसला हो। प्रसिद्ध टेलिविज़न सीरियल, *रजनी* के जिस पात्र को उन्होंने निर्देशक और अपने पारिवारिक मित्र रहे बासु चटर्जी के साथ मिलकर रचा था उसकी तरह अपने जीवन में भी वे कई बार अपनी गरिमा और अपने मूल्यों के लिए लड़ती हुई नज़र आयीं। राजेंद्र यादव के 'मुड़-मुड़ के देखता हूं' के दिये गये उनके प्रत्युत्तर के अलावा, *आपका बंटी* उपन्यास के फ़िल्मांकन में जब समझौते किये गये तो इसे लेकर उन्होंने जो लंबी क़ानूनी लड़ाई लड़ी थी, वह इसकी एक और मिसाल है।

यदि उनके कथा-साहित्य को ग़ौर से देखा जाये तो यह समझने में परेशानी नहीं होगी कि वे केवल नारी मुद्दों पर लिखनेवाली लेखिका नहीं थीं बल्कि उनके लेखन में इस बात की प्रेरणा शामिल है कि कैसे अपनी मानवोचित गरिमा और मानवीय इच्छाओं को बनाते-संजोते हुए जीवन जीने का हक़ हर इंसान को मिल सकता है, चाहे वह *आपका बंटी* के बंटी और शकुन हों या 'यही सच है' की प्रभा या *महाभोज* के बिसू, बिंदा और रुक्मा हों।

उनके लेखन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सहजता और पारदर्शिता है। उनके व्यक्तित्व की भी यही विशेषताएं कही जा सकती हैं। राजेंद्र यादव जैसे मुखर और प्रबल व्यक्तित्व के साथ रहते हुए उन्होंने जिस तरह अपने व्यक्तित्व और लेखन को उनकी छायाओं से नितांत अलग बनाकर रखा वह महिलाओं ही नहीं कई पुरुषों के लिए भी अनुकरणीय रहा। बिना नारीवाद का कोई झंडा उठाये (यह नहीं कि झंडा उठाना कोई हीनतर कृत्य है) उन्होंने स्त्रियों को मानसिक ग़ुलामी से आज़ाद करने के लिए जिस तरह की कहानियां लिखीं, उनमें पितृसत्ता के बारीक़ और प्रायः सामने-सामने न दिखायी पड़नेवाले हथियारों और बंधनों का बेहद कुशल उद्घाटन होता है। साथ ही उन हथियारों से घायल और बंधनों से बंधी कसमसाती औरत का अपनी शालीनता, अस्मिता और पारिवारिकता को बनाये रखते हुए किया जानेवाला संघर्ष भी दिखता है। स्त्री के इस अमुखर, शालीन पर कशमकश भरे संघर्ष की कहानियों के दौर के अलावा उनकी बाद की रचनाओं में पितृसत्ता या पुरुषों की छद्म आधुनिकता पर मारक व्यंग्य करने वाली धार भी मिलती है जिसे 'नायक खलनायक विदूषक' या 'करतूते-मरदां' आदि में देखा जा सकता है। कोई आश्चर्य नहीं था कि एकाध दशक पहले जब हिंदी के कथाकारों की लोकप्रियता का एक प्रसिद्ध साप्ताहिक ने सर्वेक्षण किया तो उसमें वे अव्वल स्थान पर पायी गयीं। लेखन में निहित उनकी आधुनिकता में परंपरा का कोई मुखर विद्रोह या उसके भंजन की मुद्राएं लगभग अनुपस्थित हैं, लेकिन जिस आधुनिकता को उनके लेखन ने हिंदी कथा-साहित्य में बिना किसी समारोह के पक्का किया, उसी भूमि पर आगामी स्त्रीवाद की इमारत हिंदी-साहित्य के इलाक़े में खड़ी हो सकी है।

नयी कहानी के कहानीकारों ने समांतर सिनेमा आंदोलन जैसे आंदोलन को बनाने में बेहद सक्रिय भूमिका निभायी थी लेकिन मन्नू भंडारी समांतर सिनेमा से आगे बढ़कर लोकप्रिय सिनेमा और टेलिविज़न धारावाहिकों से जुड़नेवाले साहित्यकारों की उस पंक्ति में शामिल थीं जिसमें कमलेश्वर और मनोहर श्याम जोशी को गिना जाता है। लेकिन मन्नू जी ने कभी इस माध्यम में अपने सरोकारों का मनोरंजन या लोकरुचि की क़ीमत पर समझौता नहीं किया। *स्वामी* फ़िल्म के अंतिम दृश्य में नायिका के पैर छूकर माफ़ी मांगने के सवाल पर वे जिस तरह बासु चटर्जी से जूझ पड़ीं, वह उनके अपने सरोकारों पर टिके रहने की एक और बानगी है।

मैंने उनसे मिलने के कुछ ही मौक़े पाये लेकिन उनसे जो भी मिला हो वह मेरे इस इस अनुभव की तसदीक़ ज़रूर करेगा कि उनके संसर्ग में जाने पर स्नेह और मानवीय ऊष्मा से आप अछूते नहीं रह सकते थे। *हंस* के दफ़्तर में जब एक दिन उनसे मुझे बात करने का अवसर मिला तब अपनी सबसे बड़ी परेशानी यही बताती रहीं कि वे लिख नहीं पा रही हैं। *हंस* में आनेवाली कुछ कहानियां पढ़कर उन पर अपनी राय देने का काम भी हाथ में लेना चाहा, पर दुर्भाग्य से उनके स्वास्थ्य ने इसे चलने नहीं दिया।

अपने को सक्रिय बनाये रखने में असफल होने की पीड़ा ने उनकी बीमारी को और भी जटिल कर दिया था। लेकिन उन्होंने प्रयत्न नहीं छोड़ा। अपनी तीमारदारी करने आयी किशोरी के मन में उन्होंने ने एक अध्यापिका और अभिभावक की तरह पढ़ने के संस्कार विकसित किये। वे अपने को बाद में निष्क्रिय और नया लिख पाने में असमर्थ भले मानती रही हों, लेकिन वे आमरण एक सार्थक जीवन जीती रहीं।

एक लेखिका, अध्यापिका, मां, पत्नी, सामाजिक के रूप में उन्होंने अपने अंदर की औरत को कभी झुकने, डरने या गिरने नहीं दिया और इन सभी मोर्चों पर जिस तरह से डटकर अपना जीवन बिताया, वह हमेशा याद किया जाता रहेगा।

मो. 9968281417

पतनशील हिंदू और पूंजी की संस्कृति की दुरभिसंधि:
अंधकार युग की ओर बढ़ता भारत

सिद्धार्थ

भारत में उत्तर से लेकर दक्षिण और पूरब ले लेकर पश्चिम तक आरएसएस (संघ), भाजपा एंव अन्य आनुषांगिक संगठनों और कारपोरेट घरानों का वर्चस्व केवल एक राजनीतिक और आर्थिक परिघटना नहीं है, उससे ज़्यादा कहीं गहरे व्यापक स्तर पर यह एक सांस्कृतिक परिघटना भी है, जिसने उस मन:स्थिति और चेतना का निर्माण किया, जिसके चलते राष्ट्रवाद के नाम पर देश के हिंदूकरण (ब्राह्मणीकरण) और विकास के नाम पर कारपोरेटाइज़ेशन (पूंजी की लूट को खुली छूट) का मार्ग प्रशस्त हुआ।

हमारे देश में ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति तथा पूंजीवादी-साम्राज्यवादी संस्कृति का घिनौना गठजोड़ मुकम्मल शक्ल अख़्तियार कर चुका है। हिंदू फ़ासीवाद और कॉरपोरेट फ़ासीवाद एक दूसरे से गले मिल गये हैं। कॉरपोरेट फ़ासीवाद ने इस देश में अपनी जड़ें गहराई तक धंसाने के लिए ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को गले लगा लिया है। ये दोनों संस्कृतियां भारतीय आदमी के पोर-पोर में प्रवेश करती जा रही हैं, ये हर प्रकार के प्रतिगामी मूल्यों को बढ़ावा देती हैं, हर प्रकार के प्रगतिशील मूल्यों को ख़त्म करने की कोशिश कर रही हैं। अब तो ये टीवी, इंटरनेट, मोबाइल के माध्यम से घर-घर में प्रवेश कर गयी हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के हाथ में पहुंच गयी हैं, व्यक्ति की सुबह इस बुद्धू बक्से से शुरू होती है जो दिन रात चलता ही रहता है। आंख भी इन्हें ही देखकर बंद होती है। ये ऐसे मन-मस्तिष्क-हृदय का निर्माण कर रहे हैं जिससे किसी प्रकार की उदात्तता, महानता, इंसानियत तथा मानवीय ऊंचाई की उम्मीद न की जा सके। दोनों संस्कृतियां मिलकर मनुष्य को पिशाच बनाने में लगी हुई हैं। इन दोनों पतनशील संस्कृतियों की नापाक दुरभिसंधि से इनकी ताक़त कई गुना बढ़ गयी है। ये हर मानवीय मूल्य को रौंदते हुए आगे बढ़ रही हैं।

इन दो संस्कृतियों में पहली ठेठ वैदिक-सनातन संस्कृति है, जिस पर अधिकांश भारतीयों को गर्व है, उसे 'हिंदू संस्कृति' कहते हैं, उसे सनातन संस्कृति, वैदिक संस्कृति, आर्य संस्कृति तथा द्विज संस्कृति के नाम से भी पुकारा जाता है। इस संस्कृति के गौरव-ग्रंथ आदिकवि वाल्मीकि के रामायण से लेकर तुलसीदास का रामचरितमानस तक हैं। वेद, पुराण, स्मृतियां, संहितायें इसके पूजनीय ग्रंथ हैं। वेदों के रचयिता तथाकथित ऋषियों से लेकर स्मृतियों के रचयिता गौतम, मनु, नारद, याज्ञवल्क्य, तथा शंकराचार्य इसके महान पूजनीय नायक हैं। जब-जब इस संस्कृति को कोई ख़तरा पैदा हुआ है, मिथ गढ़ दिया कि स्वयं ईश्वर ने अवतार लेकर (राम एवं कृष्ण) इसकी रक्षा की है। आधुनिक युग में तिलक, सावरकर, हेडेगवार और गोलवलकर जैसे लोग इसके सबसे बड़े रक्षक के रूप में सामने आये। इस संस्कृति की रीढ़ है, वर्णव्यवस्था, जाति व्यवस्था तथा जातिवादी पितृसत्ता, जिसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा

ने चारों वर्णों की रचना की। ख़ून चूसने वाले परजीवियों(ब्राह्मणों) को अपने मुंह से पैदा किया तथा मेहनतकश शूद्रों को अपने पैर से। पता नहीं स्त्रियों को कहां से पैदा किया, यह तो वही जाने या हो सकता है उनके ऋषियों-महात्माओं को पता हो। इस संस्कृति को, इसके असली चरित्र एवं रूप को ढंकने के लिए जाने या अनजाने यूरोपीय नाम 'सामंती संस्कृति' भी कुछ लोग कहते रहे हैं। इसको इसके असली नाम से पुकारा जाना चाहिए जो इसके सार एवं रूप को ठीक-ठीक प्रकट करता है और वह नाम है मनुवादी-ब्राह्मणवादी संस्कृति। इस संस्कृति का जन्मजात बुनियादी लक्षण है कि हर व्यक्ति जन्म से ऊंच या नीच पैदा होता है अर्थात् किसी से ऊंच तथा किसी से नीच पैदा होता है। चार वर्णों में सबसे ऊंचा वर्ण है 'ब्राह्मण' तथा सबसे नीचा वर्ण है 'शूद्र'। बाद में एक वर्ण और बना दिया गया, जो महानीच ठहराकर है 'अंत्यज' कहा गया तथा जिसकी छाया के स्पर्श से भी अन्य लोग दूषित हो जाते हैं। स्त्री भी नीचों में शामिल की गयी। नीच कहे जाने के चलते जितने पैमाने शूद्रों-अंत्यजों के लिए थे, उनमें से अधिकांश स्त्रियों पर भी लागू होते हैं।

इस संस्कृति की सबसे पहली बुनियादी विशेषता है- श्रम, विशेषकर शारीरिक श्रम करने वालों से घृणा। कौन-कौन कितना और किस प्रकार का शारीरिक श्रम करता है, उसी से तय हो जायेगा कि वह कितना 'नीच' है। इस विशेषता का दूसरा पहलू यह है- जो व्यक्ति शारीरिक श्रम से जितना ही दूर है अर्थात् जितना बड़ा परजीवी है, वह उतना ही महान एवं श्रेष्ठ है। ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ एवं महान है क्योंकि उसके ज़िम्मे किसी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं था। मेहतर समुदाय सबसे घृणित क्योंकि वह बिष्ठा एवं गंदगी साफ़ करता है। विष्ठा एवं गंदगी करने वाले महान तथा साफ़ करने वाले 'नीच'। दलित 'नीच' क्योंकि वह मेहनत करता था अर्थात् उत्पादन-संबंधी सारे श्रम वही करता था। उत्पादक, नीच और बैठकर खाने वाले परजीवी, महान। कपड़ा गंदा करने वाले, महान तथा उसे साफ़ कर देने वाले धोबी, 'नीच'। बाल तथा नाख़ून काटकर इंसान को इंसानी रूप देने वाला नाऊ 'नीच' तथा जिन्हें उसने इंसान बनाया वे लोग, ऊंच। यही बात सभी श्रम-आधारित पेशों पर लागू होती रही है।

घर में स्त्री पुरुष से नीच, क्योंकि वह बच्चे से बूढ़ों तक की गूह-गंदगी साफ़ करती है। धोबी का भी काम करती है, कपड़े धोती है, घर की सफ़ाई करती है, खाना बनाती है। जैविक उत्पादन(बच्चे जनती है) करती है, और 'महान' पुरुषों को अन्य सुख प्रदान करती है। इसलिए स्त्री, पुरुषों से नीच तथा उनके अधीन। शूद्र द्विजों से नीच तथा उनके अधीन।

मनुवादी-ब्राह्मणवादी संस्कृति की दूसरी विशेषता है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के समान नहीं हो सकता अर्थात् समानता की अवधारणा का पूर्ण निषेध। चार वर्णों में सभी एक दूसरे से ऊंच या नीच हैं। चारों वर्णों में शामिल हज़ारों जातियां एक दूसरे से ऊंच-नीच हैं। परिवार में ऊंच-नीच का श्रेणीक्रम बना हुआ है। इस संस्कृति में गर्ग गोत्र के शुक्ल सबसे ऊंच है, लेकिन स्थान-विशेष के शुक्ल दूसरी जगह के शुक्ल से नीच हैं या ऊंच है। सबसे निचली कही जाने वाली जातियों में शामिल दलितों (चमारों) में भी उत्तरहा तथा दखिनहा हैं। उत्तरहा दखिनहा से ऊंच हैं। बाभनों में भी नान्ह जाति के रूप में चौबे-उपधिया हैं। इनका अपराध यह है कि ये अपने खेतों में शारीरिक श्रम करते हैं। असमानता या ग़ैर-बराबरी इसके केंद्र में है। इस संस्कृति की तीसरी विशेषता है अधीनता। मिथकों के अनुसार ब्रह्मा ने शूद्रों-अंत्यजों तथा स्त्रियों को क्रमशः द्विजों(सवर्णों) तथा पुरुषों के अधीन बनाकर

भेजा है। शूद्रों-अंत्यजों तथा स्त्रियों का दैवीय कर्तव्य है कि वे सवर्णों तथा पुरुषों की आज्ञा का पालन करें तथा उनकी सेवा करें। अधीनता की इस व्यवस्था का उल्लंघन करने का अर्थ है- ईश्वरीय विधान का उल्लंघन।

इस संस्कृति की चौथी विशेषता है- अतार्किकता। जन्मजात श्रेष्ठता का कोई तार्किक आधार नहीं है। लेकिन महान से महान वैज्ञानिक, प्रोफ़ेसर, न्यायाधीश, वकील, डॉक्टर, पत्रकार, राजनेता तथा अन्य ज्ञानीजन अपनी जन्मजात जातीय श्रेष्ठता के दंभ में फूले हर कहीं मौजूद हैं। सोचने का यह तरीक़ा तार्किकता की बुनियाद को ही खोखला कर देता है। अलोकतांत्रिक सोच इसकी पांचवीं विशेषता है। जातीय तथा लैंगिक श्रेष्ठता और निकृष्टता की भावना, इस संस्कृति की रीढ़ है। जनवाद तथा लोकतांत्रिक भावना की अनिवार्य शर्त है- इंसान-इंसान के बीच मनुष्य होने के चलते बराबरी का भाव। बराबरी के इस भाव के बिना जनवादी या लोकतांत्रिक विचार-भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सरोकारहीनता तथा असंवेदनशीलता इस संस्कृति की छठी विशेषता है। जब यहां एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मनुष्य के रूप में देखने की जगह जाति-विशेष या लिंग-विशेष के रूप में देखता है तो गहरी मानवीय संवेदनशीलता की ज़मीन ही कमज़ोर पड़ जाती है। एक दूसरे के प्रति इतनी सरोकारहीनता शायद ही किसी समाज में मौजूद हो। इस संस्कृति की सातवीं विशेषता है- जो जितना शारीरिक श्रम करे, उसे उतना ही कम खाने-जीने का साधन प्रदान किया जाये तथा जो जितना ही शारीरिक श्रम से दूर रहे, उसे उतना ही बेहतर भोजन तथा जीवन जीने के अन्य साधन प्रदान किये जायें। मेहनत करने वाला उत्पादक भूखा जीने को विवश तथा श्रम से दूर, ख़ून चूसने वाला खा पी कर आघाया हुआ।

वर्णव्यवस्था-जातिवाद के साथ ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की दूसरी बुनियादी अभिलाक्षणिकता है- जातिवादी पितृसत्ता। इसकी पहली विशेषता है कि पुरुष श्रेष्ठ तथा स्त्री दोयम दर्जे की है। पुरुष-श्रेष्ठता की इस संस्कृति का ही परिणाम है- पुत्र लालसा जिसके चलते हर वर्ष करोड़ों लड़कियों को गर्भ में पहचान कर मार दिया जाता है, इस अपराध के लिए कि उनका लिंग स्त्री का है। यह सर्वव्यापी संस्कृति है। मारने वालों में शिक्षित-अशिक्षित, ब्राह्मण-दलित, शहरी-ग्रामीण तथा पुरुष-स्त्री सभी शामिल हैं। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-संपन्न और तथाकथित महान लोग इन हत्यारों में शामिल हैं। यह संस्कृति स्त्री को भोग की वस्तु समझती है। स्त्री तथा स्त्री की योनि इसके सम्मान एवं प्रतिष्ठा की सबसे बड़ी वस्तुएं हैं। यह स्त्री को किसी प्रकार का जनवादी या बराबरी का हक़ देने को तैयार नहीं है। स्त्री क्या पहनेगी, कैसे बोलेगी, कैसे चलेगी, किससे बात करेगी, किससे नहीं बात करेगी, और सबसे बड़ा अधिकार किसे अपना जीवन साथी चुनेगी अर्थात् किससे शादी करेगी, यह संस्कृति यह सारा अधिकार पुरुष समाज को प्रदान करती है। उसका पिता, पति, भाई, चाचा या बेटा अर्थात् घर का पुरुष यह तय करेगा कि वह क्या करेगी और क्या नहीं करेगी। यदि वह इसका उल्लंघन करती है, बराबरी के अधिकारों की मांग करती है तो हिंसा की शिकार बनेगी, उसे पीटा जायेगा। यदि वह अपनी मनपसंद के लड़के से प्रेम करने या शादी करने की ज़ुर्रत करेगी तो मार डाली जायेगी(ऑनर किलिंग), प्रेम करने से इंकार करेगी तो उसके ऊपर तेजाब फेंका जायेगा या उसकी हत्या कर दी जायेगी। यहां तक कि उसे अपने शरीर पर भी हक़ प्राप्त नहीं। यदि वह पति से शारीरिक संबंध बनाने से इंकार करती है तो वह

उसके साथ ज़बर्दस्ती शारीरिक संबंध बना सकता है अर्थात् बलात्कार कर सकता है। भारतीय क़ानून इसको बलात्कार नहीं मानता। भारत सरकार इस क़ानून को बदलने के लिए तैयार नहीं है। यह तो घर की हालत है, बाहर दरिंदे कभी भी उसके ऊपर हमला बोल सकते हैं, उसके साथ बलात्कार, सामूहिक बलात्कार कर उसकी हत्या कर सकते हैं।

समाजशास्त्री कहते हैं कि स्त्री के सतीत्व अर्थात् यौनशुचिता की अवधारणा निजी संपत्ति की व्यवस्था के साथ आयी थी अर्थात् यदि निजी संपत्ति का मालिक अपने असली वारिस को अपनी संपत्ति सौंपना चाहता है तो स्त्री का उसके प्रति पूर्णतया एकनिष्ठ होना अनिवार्य है, वह स्वयं भले ही व्यभिचारी हो। लेकिन भारत में स्त्री की इस काम के अलावा एक दूसरी बड़ी ज़िम्मेदारी है- जातीय रक्त शुद्धता की रक्षा करना। इसकी अनिवार्य शर्त है- स्त्री अपनी जाति के बाहर के किसी पुरुष से प्रेम न करे, शादी न करे तथा शारीरिक संबंध न बनाये।

जाति रक्षा तथा योनि रक्षा ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति के दो सबसे बुनियादी मूल्य हैं। डॉ. लोहिया ने कहा था कि हिंदुओं का दिमाग़ जाति तथा योनि के कटघरे में क़ैद है। इस समाज का दिमाग़ तब तक मुक्त नहीं हो सकता है, जब तक इस कटघरे को तोड़ न दिया जाये। वेद, पुराण, संहिताएं तथा स्मृतियां ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति, जाति एवं जातिवादी पितृसत्ता की महानता का एक स्वर से गुणगान करती हैं। कौटिल्य, वेदव्यास, वाल्मीकि, गौतम, नारद, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, शंकराचार्य इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। आधुनिक युग के तथाकथित महानायक इस पर गर्व करते हैं। स्वतंत्र देश के प्रथम राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद जाति तथा पितृसत्ता के तोड़ने की क़ानूनी कोशिश, अंतर्जातीय विवाह तथा माता-पिता की अनुमति के बिना बालिग लड़के-लड़कियों को मनमर्ज़ी से शादी करने का क़ानूनी अधिकार (हिंदू कोड बिल के माध्यम से) देने को भारतीय संस्कृति तथा पवित्र परिवार-व्यवस्था को नष्ट करने का प्रयास मानते थे। उस समय आर एस एस भी हिंदू कोड बिल के विरुद्ध था।

क्या ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की जातिवाद तथा पितृसत्ता-संबंधी विशिष्टताएं अतीत की वस्तु बन गयी हैं? उसका उत्तर है बिल्कुल नहीं। कोई भी व्यक्ति जो व्यापक भारतीय जीवन-यथार्थ को देखता और समझता है वह बिना किसी संदेह के कह सकता है कि भारतीय समाज का बहुलांश सार रूप में इन्हीं दो मूल्यों से बुनियादी तौर पर संचालित होता है। जाति और पितृसत्ता हिंदू समाज का बुनियादी व्यावहारिक सच है। हां, इसमें पूंजीवादी पतनशील शक्ति भी घुसपैठ कर गयी है। इसमें मात्रात्मक तथा रूपगत परिवर्तन आये हैं लेकिन इससे उसके सार में गुणात्मक फ़र्क़ नहीं पड़ा है। साम्राज्यवादी पतनशील संस्कृति ने इसके सार एवं रूप को और विकृत और घिनौना बना दिया है। इसका मनुष्य-विरोधी रूप और ज़्यादा घृणित एवं वीभत्स हो गया है।

जाति और जातिवादी पितृसत्ता ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की जन्मजात बुनियादी विशेषता रही है। कालक्रम में इसमें एक और मनुष्य-विरोधी घृणित विचार एवं मूल्य जुड़ गया है जिसका आंतरिक तत्व है- सांप्रदायिक वैमनस्य, सांप्रदायिक घृणा का विचार एवं मूल्य। मुसलमानों-ईसाइयों के ख़िलाफ़ नफ़रत, घृणा एवं वैमनस्य आज ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति का सबसे ऊपर दिखने वाला तत्व बन गया है। इन दोनों के ख़िलाफ़ घृणा, नफ़रत एवं दंगे के माध्यम से यह संस्कृति हिंदू एकता के नाम पर अपने जातिवादी-पितृसत्तावादी घृणित मनुष्यविरोधी मूल्यों को ढंकना चाहती है

जबकि ये दोनों इसकी रीढ़ हैं। डॉ. आंबेडकर ने बिल्कुल ठीक कहा था कि जाति व्यवस्था के ख़ात्मे के साथ ही हिंदू धर्म का भी ख़ात्मा हो जायेगा, क्योंकि वही इसका प्राणतत्व है। मुसलमानों तथा ईसाईयों के प्रति घृणा, विशेषकर मुसलमानों के प्रति घृणा के पीछे धार्मिक विद्वेष के साथ ही दो अन्य तत्व काम करते हैं। पहला अधिकांश मुसलमानों का इस्लाम धर्म-ग्रहण करने से पहले वर्ण-व्यवस्था में शूद्र या अंत्यज होना, दूसरा अधिकांश मुसलमानों का ग़रीब होना अर्थात् शारीरिक श्रम करना। दूसरे शब्दों में कहें तो मुसलमानों के प्रति घृणा के पीछे धार्मिक विद्वेष के साथ ही, जातीय तथा वर्गीय घृणा भी छिपी हुई है। हिंदू संस्कृति में मुसलमानों के प्रति घृणा कितनी गहरी है इसका प्रमाण गुजरात नरसंहार में मिला जहां खुलेआम भीड़ के बीच एक मां बनने वाली स्त्री के साथ बलात्कार किया गया, उसका पेट फाड़ा गया है। हिंदुवादियों का स्त्री-विरोधी घिनौना चेहरा मुजफ़्फ़रनगर दंगो में सामने आया जब गांव के ही लोग जिन्हें कल तक मुस्लिम स्त्रियां अपना चाचा, ताऊ, भाई, बेटा कहक़र पुकारती थीं, उनके साथ सामूहिक बलात्कार करने में इन ताऊओं, चाचाओं, बेटों, भाइयों को कोई शर्म नहीं आयी। शर्म की जगह गर्व की अनुभूति हुई। वे आज भी गर्व से फूले घूम रहे हैं, कई तो सांसद बन गये।

ये हैं ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति के तीन तत्व। इस संस्कृति का मुकम्मल गठजोड़ विश्वव्यापी पूंजी की संस्कृति से हो गया है। इस विश्वव्यापी पूंजी की संस्कृति को साम्राज्यवादी संस्कृति भी कहते हैं। इसकी सबसे पहली विशेषता है- हर चीज़ को माल में तब्दील कर देना अर्थात् ख़रीदने-बेचने की वस्तु बना देना। दुनिया एक बाज़ार है, हर आदमी एक विक्रेता या क्रेता है, हर चीज़ बिकाऊ माल है, ईश्वर बिकाऊ है, मूल्य बिकाऊ है, विचार बिकाऊ हैं, साहित्य-संस्कृति बिकाऊ हैं, साहित्यकर्मी-रचनाकर्मी बिकाऊ हैं, कला बिकाऊ है, कलाकार बिकाऊ हैं, न्यायालय बिकाऊ है, न्यायाधीश बिकाऊ हैं, राष्ट्र बिकाऊ है, राष्ट्र के नेता बिकाऊ हैं, बुद्धि बिकाऊ है, बुद्धिजीवी बिकाऊ हैं, अभिनय बिकाऊ है, अभिनेता-अभिनेत्री बिकाऊ हैं, निर्देशक बिकाऊ हैं, न केवल निर्जीव वस्तुएं बिकाऊ हैं बल्कि सजीव इंसान बिकाऊ है, श्रम बिकाऊ है, श्रमिक बिकाऊ हैं, इस संस्कृति के लिए ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे बेचने लायक़ न बनाया जा सके, जिसे बेचा ना जा सके, जिसे ख़रीदा न जा सके। यहां सौंदर्य का बाज़ार लगता है, आप बाज़ार से हुस्न ख़रीद सकते हैं, इश्क़ ख़रीद सकते हैं, इसे बेच भी सकते हैं। जो ख़रीदने-बेचने से इंकार कर देता है, उसे दुनिया में रहने का कोई हक़ नहीं है, उसे जीने का कोई हक़ नहीं है। वह यदि ख़रीदने-बेचने या बिकने का विरोध करता है तो उसे सभ्यता-विरोधी घोषित कर दिया जाता है, उसे विकास-विरोधी घोषित कर दिया जाता है, उसके ऊपर देशद्रोही, नक्सली या माओवादी आतंकवादी का लेबल लगाकर जेल में डाल दिया दिया जाता है या हत्या कर दी जाती है। इस संस्कृति के लिए हर वह इंसान देशद्रोही, मानवद्रोही है, सभ्यता-विरोधी तथा विकास-विरोधी है जो ख़रीदने-बेचने तथा बिकने की इस संस्कृति का विरोध करता है। इस संस्कृति की दूसरी विशेषता है- आदमी के भीतर की बुनियादी आदिम-मूल प्रवृत्तियों को ऐसी दिशा देना जिससे वह एक ऐसे जानवर या नर पिशाच में तब्दील हो जाये जिसे इंसान-विरोधी कोई कुकृत्य करने में थोड़ी भी हिचक न हो। यह संस्कृति मनुष्य की बुनियादी मूल प्रवृत्तियों को उभाड़कर उसे शैतानी दिशा देती है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में सबसे प्रबल प्रवृत्ति यौन-इच्छा या काम-भावना है। मनुष्यता के लंबे समय के इतिहास में स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम जैसी उदात्त प्रवृत्ति का विकास इसी से हुआ। साम्राज्यवादी

संस्कृति अपनी फ़िल्मों, टीवी-चैनलों, पोर्नोग्राफ़ी तथा विज्ञापनों के माध्यम से यौन-इच्छा को प्रेम से अलग कर देती है। इसे इस तरह उभाड़ती है कि यह कामपिपासु शैतान की इच्छा में बदल जाये। यह कामपिपासु शैतानों की रचना करती है, जिन्हें नन्हीं-सी बच्ची से लेकर दादी मां सरीखी स्त्री से भी बलात्कार करने में ज़रा-सी हिचक नहीं होती। यह संस्कृति स्त्री के प्राकृतिक सौंदर्य तथा आकर्षण को माल बनाकर वस्तुएं बेचने के लिए इस्तेमाल करती है। अपने विज्ञापनों में यह स्त्री को एक ऐसे माल में तब्दील में कर देती है, जो यौन-इच्छा जगाने की जीती-जागती गुड़िया हो। जूता बेचना हो तो, गाड़ी बेचना हो तो, मकान बेचना हो तो, कपड़े बेचने हो तो, सबसे पहले विज्ञापन में एक स्त्री आती है, वह यौन पिपासा जगाती है, फिर कहती है कि यदि इस यौन पिपासा को शांत करना चाहते हो तो इस वस्तु को ख़रीद लो। स्वयं स्त्री को विज्ञापनों में ऐसे पेश किया जाता है, ऐसे बताया जाता है कि तुम जितनी अधिक यौन-इच्छा को जगा सकती हो, उतनी ही तुम्हारी उपयोगिता है, नहीं तो तुम व्यर्थ और बेकार हो, तुम्हारा कोई मूल्य नहीं है। इस संस्कृति के लिए स्त्री यौन-इच्छा को जगाने वाली वस्तु है। इस संस्कृति की तीसरी विशेषता है- लोभ-लालच अथवा फ़ायदे की संस्कृति। यह बाज़ारू संस्कृति इन मूल्यों और विचारों को लोगों के बीच कूट-कूट कर भरने की कोशिश करती है कि कुछ भी करो, कुछ भी सोचो तो सबसे पहले यह सोचो कि तुम्हारा क्या फ़ायदा है? कुछ भी ऐसा न करो जिसमें तुम्हारा फ़ायदा न हो। हर कार्यवाही-गतिशीलता का प्रेरणास्रोत लोभ-लालच होना चाहिए। व्यक्तिगत लोभ-लालच के इतर कुछ भी सोचना, करना मूर्खता और बेवकूफ़ी के अलावा कुछ भी नहीं है।

पूंजी की संस्कृति का एक रूप है उपभोक्तावादी संस्कृति। एक ऐसी संस्कृति जिसमें मनुष्यों को ऐसी वस्तुएं ख़रीदने के लिए विवश एवं प्रेरित कर दिया जाता है, जिसकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है। इसी ख़रीद-बिक्री के आधार पर इसकी अर्थव्यवस्था चलती है। उपभोक्तावादी संस्कृति मनुष्य को एक हवसी इंसान में तब्दील कर देती है, जो ख़रीदने की हवस का शिकार हो जाता है। ख़रीदना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। वह कोई भी कुकर्म करके, कोई भी समझौता करके, कोई मूल्य छोड़कर चीज़ों को ख़रीद लेना चाहता है, उसे ख़रीदने में ही जीवन का सुख दिखायी देता है। एक चीज़ ख़रीदता है, कुछ समय बीता नहीं कि दूसरी चीज़ ख़रीदने के लिए लपक पड़ता है। लोभ-लालच आधारित यह उपभोक्तावादी संस्कृति मनुष्य को आत्मकेंद्रित बनाती चली जाती है। स्वार्थपरता उसके व्यक्तित्व से अपने वीभत्स एवं घृणित रूप में टपकती रहती है। उसे देखकर घिन और उबकाई आती है। आत्मकेंद्रित इंसान अपने रूप-रंग-आकार-प्रकार में इंसान तो दिखता है लेकिन पशु से भी गया गुज़रा होता है, क्योंकि जानवर के स्वार्थ की प्रकृति ने सीमाएं बना दी हैं। वह पेट भर जाने पर खाना इकट्ठा नहीं करता, लालच-लोभ जानवरों में नहीं होता, जानवर हवस के शिकार भी नहीं होते। यह संस्कृति मनुष्य का अमानवीकरण करती है। मार्क्स ने *कम्युनिस्ट घोषणा पत्र* में कहा है कि जब निर्जीव वस्तु (पूंजी) सजीवों (मनुष्यों) की संचालक बन जाती है तो यह नित निरंतर तीव्र गति से मनुष्यों का अमानवीकरण करती है। अमानवीकरण की इस प्रक्रिया की गति तथा ताक़त पूंजी की गति तथा ताक़त पर निर्भर करती है। आज पूंजी ने अबाध गति से पूरे विश्व में अपना प्रसार कर लिया है। उसका शैतानी ख़ूनी पंजा दुनिया को अपनी गिरफ़्त में लेता जा रहा है। वह सभी मानवीय मूल्यों को नष्ट कर रहा है, सभी मानवीय संबंधों को लेन-देन के संबंधों (विनिमय के संबंधों) में तेज़ी से तब्दील कर रहा है। हर

इंसानी मूल्य पूंजी के मार्ग का अवरोध होता है। पूंजी अपने विस्तार तथा प्रभुत्व के लिए हर मानवीय मूल्य तथा संबंधों की क़ब्र खोदती है। वह इतनी विकराल तथा ख़ून की प्यासी हो चुकी है कि वह पूरी धरती को निगल जाने पर उतारू है। पूंजी के विस्तार तथा मुनाफ़े के लिए प्रकृति का जिस प्रकार दोहन किया जा रहा है उसके चलते धरती का विनाश या धरती का मनुष्यों के न रहने लायक़ हो जाना कोई सुदूर भविष्य की कल्पना मात्र नहीं है बल्कि निकट भविष्य की वास्तविकता है। यदि प्रकृति-विरोधी, मनुष्य-विरोधी पूंजी की इस संस्कृति की अबाध गति को रोका नहीं गया, जितना जल्दी संभव हो पूंजी के अस्तित्व को ख़त्म नहीं किया गया तो यह विनाश अवश्यंभावी है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या इन पतनशील संस्कृतियों के गठजोड़ का प्रतिरोध किया जा सकता है, क्या इन्हें आगे बढ़ने से रोका नहीं जा सकता है? इनके विस्तार को सीमित नहीं किया जा सकता? क्या इनका समूल नाश नहीं किया जा सकता? क्या सिर्फ़ मनुष्यता को केंद्र में रखने वाली संस्कृति का निर्माण नहीं किया जा सकता? क्या हमारे देश में ऐसी संस्कृति तथा परंपरा नहीं रही है जिसने ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति का प्रतिरोध किया हो? यदि वह रही है तो कौन सी परंपरा है? क्या दुनिया के पैमाने पर पूंजी की संस्कृति के विरोध की लंबी परंपरा नहीं रही है? क्या आज बहुलांश लोगों, सच कहें तो पूरी मनुष्य-जाति का हित इसमें नहीं है कि इन दोनों संस्कृतियों का समूल नाश कर दिया जाये? क्या प्रगतिशील परंपरा के संस्कृतिकर्मियों-संगठनों-संस्थाओं से कुछ जाने-अनजाने ऐसी भूलें नहीं हुई हैं जिनसे इन प्रतिगामी संस्कृतियों को फलने-फूलने-विकसित होने तथा राष्ट्र के जीवन पर छा जाने का मौक़ा मिला? क्या हमें उन भूलों- ग़लतियों को स्वीकार करके आगे नहीं बढ़ना चाहिए? क्या हमसे दोस्तों-दुश्मनों की सटीक पहचान करने में कुछ भूल-ग़लतियां नहीं हुई हैं? इन प्रतिगामी संस्कृतियों के प्रतिरोध की रणनीति क्या होगी, कौन-सी शक्तियां इसमें हमारा साथ देंगी, कौन-सी शक्तियां हमारे ख़िलाफ़ खड़ी होंगी, हमें इसकी भी जांच-पड़ताल करनी होगी। साथ ही आज जो भी प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन चल रहे हैं, उनकी पहचान नये सिरे से करने की आवश्यकता है। हमें ठहरकर अपनी कमज़ोरियों तथा सामर्थ्य का मूल्यांकन करना चाहिए। हमें इन प्रश्नों का सही-सही उत्तर ढूंढ़ना ही होगा। इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ने की अतीत तथा वर्तमान की तमाम कोशिशों को जानना-समझना होगा, जो हमारे काम का है, उन्हें आत्मसात करना होगा।

सबसे पहले मैं ठेठ भारतीय संस्कृति, ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को लेता हूं जितना पुराना इस प्रतिगामी संस्कृति का इतिहास है उतना ही पुराना इसके प्रतिरोध का भी इतिहास है। वर्ण-व्यवस्था आधारित पितृसत्तात्मक संस्कृति के जन्म के साथ ही वर्ण-व्यवस्था विरोधी श्रमण-लोकायत संस्कृति का भी जन्म हुआ। श्रमण संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा, राजे-महाराजे से लेकर सामान्य जनों तक ने इसे स्वीकार किया। प्राचीन काल में इसके महानायक के रूप में गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी तथा चार्वाक सामने आये। श्रमण संस्कृति ने ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को चुनौती दी, पराजित भी किया। भले ही इतिहास के लंबे दौर के बाद उसे पराजय का सामना करना पड़ा। फिर भी प्रतिरोध की यह परंपरा उठ खड़ी हुई, सिद्धों-नाथों के माध्यम से आगे बढ़ी है। इस परंपरा ने तथाकथित निम्न जातियों (मेहनतकश जातियों) के संतों - कबीर, रैदास के नेतृत्व में भक्ति आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया तथा पुनः सामंतवादी संस्कृति को, ऊंच-नीच की ब्राह्मणवादी-संस्कृति को चुनौती देते हुए

आमजन पर गहरा प्रभाव डाला। भारी संख्या में लोग इन संतों के अनुयायी बने। ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति लड़खड़ाने लगी, उसने अपने को थोड़ा उदार तथा थोड़ा मानवीय बनाकर पेश करने की कोशिश की। तुलसीदास इस नयी ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति के संरक्षक के रूप में सामने आये। वे *रामचरितमानस* में शंबूक का वध नहीं कराते, वे सीता को निर्वासित नहीं कराते हैं, वे राम के प्रति पूर्ण समर्पित शबरी-निषाद की रचना करते हैं। सीता को राम की पूर्ण अनुगामिनी के रूप में पेश करते हैं, जहां सीता का अपना व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। इस तरह तुलसीदास ब्राह्मणवाद-मनुवाद को पुनर्जीवन देते हैं। फिर एक बार ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की जीत होती है। फिर आता है आधुनिक काल। एक बार फिर ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को जोतिबा राव फुले, शाहूजी महाराज, पेरियार तथा भीमराव आंबेडकर निर्णायक चुनौती देते हैं। इसके रक्षक के रूप में तिलक, सावरकर, हेडेगवार गोलवलकर और राजेंद्र प्रसाद जैसे लोग सामने आते हैं। पुनः एक बार फिर ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की कुछ सुधारों के साथ जीत होती है। फुले, पेरियार, आंबेडकर के अनुयायी इस संस्कृति को चुनौती देते हैं, लेकिन 1990 तक आते-आते राजनीतिक रूप में संगठित इनके अधिकांश नेताओं तथा पार्टियों ने ब्राह्मणवाद-मनुवाद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया, हां साहित्य-संस्कृति तथा बौद्धिक-कर्म में रत इस धारा के अनेक संगठन, विचारक व चिंतक ब्राह्मणवाद-मनुवाद को छोटे स्तर पर ही सही, धीमे स्वर में ही सही, चुनौती दे रहे हैं।

वामपंथी संस्कृति अपने जन्म के साथ ही सामंती संस्कृति का प्रतिरोध करती रही है लेकिन भारतीय सामंती संस्कृति को उसके सटीक अंतर्य तथा रूप के साथ इसने बहुत बाद में पहचाना है। अब इस घेरे का भी एक हिस्सा ठेठ भारतीय प्रतिगामी संस्कृति को ब्राह्मणवादी-मनुवादी, द्विज संस्कृति कहता है, इसे अपने सांस्कृतिक हमले का निशाना बनाता है तथा अपनी प्रगतिशील सांस्कृतिक परंपरा को बुद्ध-सिद्ध-नाथ-कबीर-रैदास-फूले-पेरियार तथा बाबा साहब आंबेडकर के साथ जोड़ता है। इस सबके बावजूद भी प्रगतिशील संगठनों के एक बड़े हिस्से को बुद्ध-कबीर-फूले-पेरियार तथा आंबेडकर को अपनी प्रगतिशील परंपरा में शामिल करने में हिचक है, संकोच है। कई बार तो नफ़रत तथा दुराग्रह भी दिखायी पड़ता है। इस स्थिति को तोड़े बिना हम भारत की ठेठ प्रतिगामी-पतनशील संस्कृति का मुक़ाबला नहीं कर सकते हैं।

प्रतिगामी साम्राज्यवादी संस्कृति अर्थात् पूंजी की संस्कृति के प्रतिरोध की भी लंबी विश्वव्यापी परंपरा रही है। हमारे देश में भी इसकी एक लंबी परंपरा रही है। समाजवाद की सामयिक पराजय तथा हमारी भूल-ग़लतियों से इस परंपरा को धक्का लगा तथा यह कमज़ोर पड़ी। यह अभी बिखराव, निराशा, नाउम्मीदी के दौर से गुज़र रही है। हमारे देश के कई इलाक़ों की जनता वैकल्पिक मानवीय संस्कृति के निर्माण में लगी हुई है। हमें अपनी भूल-ग़लतियों को स्वीकार करते हुए, अपनी सामयिक पराजय से पूर्णतः मुक्त होकर अपनी शक्ति समेटनी होगी। हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि ब्राह्मणवादी-मनुवादी तथा साम्राज्यवादी-पूंजीवादी, इन दोनों प्रतिगामी संस्कृतियों ने आपस में मुकम्मल गठजोड़ कर लिया है या यों कहें कि ये आपस में पूर्णतया घुल-मिल गयी हैं, लेकिन हमारे देश में प्रगतिशील संस्कृति- ब्राह्मणवाद-मनुवाद विरोधी संस्कृति तथा साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी संस्कृति की धाराएं काफ़ी अलग-अलग हैं। बहुत सारे सांस्कृतिक संगठन इन दोनों धाराओं का मेल

कराने वाले संगठनों के रूप में सामने आये, लेकिन यह परिघटना व्यापक सांस्कृतिक कर्म का हिस्सा नहीं बन पायी। हम दोनों के दुश्मन एक हो गये हैं। हम अलग-अलग रहक़र दुश्मन की ताक़त को बढ़ा रहे हैं तथा चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने अपनी ताक़त को कमज़ोर कर रहे हैं।

इन दोनों प्रगतिशील संस्कृतियों के मेल के बिना प्रतिगामी संस्कृतियों के गठजोड़ को चुनौती नहीं दी जा सकती है, उनका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता है,उनका समूल नाश नहीं किया जा सकता है। प्रतिरोध की रणनीति का पहली ज़रूरत है- दोनों प्रगतिशील सांस्कृतिक धाराओं का मेल।

प्रतिगामी संस्कृतियों का गठजोड़ अपनी लाख विकरालता तथा पैशाचिक चरित्र के बावजूद भीतर से अत्यंत कमज़ोर है क्योंकि वह मनुष्य विरोधी है। देश की बहुलांश आबादी मेहनतकश लोगों की है जो इन दोनों संस्कृतियों के जुए तले पिस रहे हैं। इन मेहनतकशों की वस्तुगत स्थिति इन संस्कृतियों के ख़िलाफ़ है, भले ही ये विचार, संस्कारवश इनके पक्ष में दिखायी पड़ते हों। हम देश के बहुलांश मेहनतकशों पर भरोसा करके उनके बीच प्रगतिशील संस्कृति को स्थापित करके प्रतिगामी संस्कृतियों के नापाक गठजोड़ का प्रतिरोध कर सकते हैं और अंततोगत्वा उनका समूल नाश कर सकते हैं। ज़रूरत है अपने लोगों से सघन रिश्ता जोड़ने की ताकि वे हमें अपना समझ सकें और हम उन्हें सही अर्थों में अपना कह सकें।

मो.9711754989

छह जनगीत : मुनेश त्यागी

करेंगे हम शुरुआत ज़माना बदलेगा

करेंगे हम शुरुआत ज़माना बदलेगा
हाथों में होंगे हाथ ज़माना बदलेगा
तुम आओ मेरे साथ ज़माना बदलेगा
हम हो जायें एक साथ ज़माना बदलेगा।

ना इसका है, ना उसका है
यह चमन हमारा सबका है
ना तेरा है ना मेरा है
यह वतन हमारा सबका है
हम गायेंगे एक साथ तराना बदलेगा।

ऊंच-नीच का भेद मिटेगा
समता की तरंगे उठेंगी
इंसाफ़ का तूफ़ां उठेगा
ममता की उमंगें उठेंगी
होगी हम से शुरुआत ज़माना बदलेगा।

शोषण का शिकंजा तोड़ेंगे
हम झूठ की रस्में छोड़ेंगे
ये ज़ुल्म के बंधन तोड़ेंगे
हम पाप घरोंदे फोड़ेंगे
जब चलेंगे मिलकर साथ ज़माना बदलेगा।

किसान आ, मज़दूर आ
दुनिया को संवारने वाले आ
साथी, दोस्त, सहयोगी आ
इस जग को सजाने वाले आ
फहरेगा परचम लाल ज़माना बदलेगा।

वहां आवाज़ उठाना लाज़िम है

जहां बेटियां पेट में मरती हों
जहां दुल्हन दहेज में जलती हों
जहां मौत जान से सस्ती हो
जहां नफ़रत दिलों में बसती हो।
वहां आवाज़ उठाना वाजिब है
वहां आवाज़ उठाना लाज़िम है।

जहां इंसाफ़ रुपयों में बिकता हो
जहां दुल्हा टकों में बिकता हो
जहां मज़दूर मिलों में पिलता हो
जहां अन्याय दिलों में मिलता हो।
वहां आवाज़ उठाना वाजिब है
वहां आवाज़ उठाना लाज़िम है।

जहां ज़ुल्मों सितम का शासन हो
जहां घोर बदमनी का आलम हो
जहां कालाबाज़ारी का राशन हो
जहां क़ानून विरोधी शासन हो।
वहां आवाज़ उठाना वाजिब है
वहां आवाज़ उठाना लाज़िम है

जहां नेता दलाली खाते हों
जहां अपराधी मौज उड़ाते हों
जहां अधिकारी ऐश में रहते हों
जहां लोग जुलम को सहते हों।
वहां आवाज़ उठाना वाजिब है
वहां आवाज़ उठाना लाज़िम है

ये नेता हमारे, वतन बेच देंगे

शपथ बेच देंगे,क़सम बेच देंगे।
ये नेता हमारे, वतन बेच देंगे।

थोड़े से पैसों में थोड़ी सी दारू में,
कई जन हमारे कलम बेच देंगे।

वफ़ा कुछ नहीं, दोस्ती कुछ नहीं है,
ये कुर्सी की ख़ातिर धरम बेच देंगे।

हया बेच देंगे, शरम बेच देंगे,
बचा है जो थोड़ा भरम बेच देंगे।

चिंतन, चेहरा, चलन बेच देंगे,
सत्ता की ख़ातिर करम बेच देंगे।

दीपक, उजाला, शमा बेच देंगे,
जवानी, बहारें, चमन बेच देंगे।

चांद , सितारे, सूरज बेच देंगे,
वायु , जंगल, गगन बेच देंगे।

होली , दिवाली, ईद बेच देंगे,
खुशी के, हंसी के सपन बेच देंगे।

सुनो मेरे यारो, ये नेता हमारे,
शहीदों की क़समें, रसम बेच देंगे।

किसानों के समर्थन में

लड़ने का मौसम आया है
लेकर ऐके का ढाल खड़े हैं,
अब ना भूखों और मरेंगे
इंक़लाब के लाल खड़े हैं।

चल लिए सैकड़ों कोस
लिये पैरों में छाल खड़े हैं,
बहुत सह लिए वार तुम्हारे
मरने को बेताब खड़े हैं।

बहुत हुए षड्यंत्र तुम्हारे
मां बहनों के लाल खड़े हैं,
बहुत देख लिए खेल तुम्हारे
हुए बहुत बेहाल खड़े हैं।

देखेंगे गोली बंदूक तुम्हारी
लिये हाथों में ढाल खड़े हैं,
ललकार रहे हैं दुश्मन को
लेकर झंडे लाल खड़े हैं।

डर रही हुकूमत दिल्ली की
एकजुट हुए किसान अड़े हैं,
मानेगी अब तो मांग हमारी
लेकर ऐसी आस खड़े हैं।

लड़ने का मौसम आया है
लेकर ऐके का ढाल खड़े हैं,
अब ना भूखों और मरेंगे
इंक़लाब के लाल खड़े हैं।

पूरे इंक़लाब की बात करो

जात धरम के झगड़े छोड़ो
समता ममता की बात करो
बहुत रह लिए अलग-थलग
मिलने जुलने की बात करो

हिंसा के पुजारी ठहरे वो
तुम अमन-चैन की बात करो
ठहरे वो अमीरों के चाकर
तुम मेहनतकश की बात करो

लूटा और खसोटा जन को
अब तो जन की बात करो
बहुत पी लिया लहू हमारा
अब हिसाब की बात करो

हड़पतें हैं जो मेहनत को
उनको हड़पने की बात करो
बेनूर सुबह के हामी वो
तुम सुर्ख़ सुबह की बात करो

हीरे मोती परबत सागर
सारी बहारों की बात करो
इक खेत नहीं इक देश नहीं
सारी दुनिया की बात करो

सारे ताने बाने को बदलो
खुद भी बदलने की बात करो
हारे थके, आधे अधूरे नहीं
पूरे इंक़लाब की बात करो

फांसियों को देख लेंगे

आंधियों ने तय किया है
कोई दीपक नहीं जलेगा
दीपकों ने तय पाया है
आंधियों को देख लेंगे

ज़ुल्मतों ने शोर मचाया
रोशनियों को रोक लेंगे
रोशनियों ने तय किया है
ज़ुल्मतों को देख लेंगे

हाकिम तो अब दास बने हैं
पूंजी और बेईमानी के
लोग भी अब कह रहे हैं
हाकिमों को देख लेंगे

दुश्मन फिर से डरा रहे हैं
आशिक़ों की ज़ात को
आशिक़ भी तो कह रहे हैं
दुश्मनों को देख लेंगे

ज़ालिम भी अब दिखा रहे है
दारो- रसन- ओ- सूलियां
लोग भी अब कह रहे हैं
फांसियों को देख लेंगे

मो. 9837151641

मेरी मां चाय नहीं पीती है

ओम प्रकाश बरनवाल

तुम मुझे मार चुके हो
और समझते हो कि मैं मर गया.

मेरी जीभ तराश दी
और सोचते हो कि मैं गूंगा हो गया

मैं बोल सकता हूं
और पुकार सकता हूं अपनी मां को
जो ताबूत में है!

किस दुनिया में हो तुम?
तुम्हारे अट्टहास पर हमारी ख़ामोशियां भारी पड़ेंगी एक दिन
और तुम रो भी नहीं पाओगे
आंसू तक सूख जायेंगे तुम्हारे

ओह! मैं भूल गया था कि मरुभूमि में जल के सोते नहीं होते
तुम क्यों रो रही हो मेरी जान?

मेरे पिता की पतोहू.
और भी लोग हैं भाई!

आज लाखों रो रहे हैं,

कल करोड़ों रोयेंगे
देखो...वो आ रहा है...

वो जो कभी हंसता नहीं, कभी रोता नहीं
जो हिटलर भी है और गोयेबल्स भी

ड्रैकुला भी और फ्रैंकेस्टाइन
बस पता नहीं चलता है!

वो युसुफ़-सा सुंदर भी है और प्रिस्ले-सा गायक भी
नाचता भी है, नचाता भी है
और गोगिया पाशा तो है ही!
...गिली-गिली-फ़ू...और 'अभिव्यक्ति' वाले टारगेट में आ गये!
'साबित करो कि तुम हिंदुस्तानी हो...'
'हिंदी हैं हम...' तो रहिए..!
हिंदुस्तान आपका थोड़े ही है!

भाई, गिद्धों का पोसबैया ये धृतराष्ट हमारा पहरुआ है.
यह बात-की-बात में चख कर बता देता है कि किस ग्रुप का ब्लड है!
इसे हिंदुस्तान नहीं, क़ब्रिस्तान चाहिए!
इधर हिंदुस्तान तो कब का आंसुओं में डूब चुका है भाई!
इसके दामन पर तो कोई छींटे नहीं पड़े,
और न कोई ख़ंजर ही है कि कोई दाग़ दिखे!

दरअस्ल मक़्तूल भी हमीं हैं और क़ातिल भी हमीं.
सुमुखी, मेरे पास आओ
आज एक लुमुम्बा मारा गया है

कल सौ लुमुम्बा पैदा होंगे!
...वो देखो, अर्थी से उठ कर मेरी मां किचेन से सीधे मेरे पास आ रही है...
उसके हाथों में उसकी चाय का गिलास है...
आकर थमाती है, कहती है-बेटा, दूध पी ले!
लुमुम्बा की मां अब चाय नहीं पीती

मो. 9709139684

चार कविताएं : सुभाष राय

1. कहीं मैं अकड़ तो नहीं गया

मेरे पास आओ, मुझे छूकर देखो
बताओ मैं जिंदा हूं या नहीं
मुझसे बातें करो, गले मिलो
बहुत दिनों से किसी से गले नहीं मिला
मुझसे प्रेम करो, अरसा गुज़र गया प्रेम किये
कहीं आलिंगन करना भूल तो नहीं गया
मुझसे झगड़ो, देखो मेरी मुट्ठी मुक्के में
बदल पाती है या नहीं

मेरी हथेली पर एक चीरा लगाओ
देखो खून बहता है या नहीं
समझ में न आये तो मुझे दो टुकड़े करके देखो
कोई तड़प बची है या नहीं

मुझे रस्सी में बांधकर घसीटो
गालियां दो, अपमान करो, कोड़े मारो
देखो मैं उठ खड़ा होता हूं क्या
डाक्टर कहते हैं नब्ज़ सही चल रही है
श्वास भी ठीक है, पलकें झपक रही हैं
ये ज़िंदा होने के लक्षण हैं

अगर मैं ज़िंदा हूं तो लोगों से / मिलता-जुलता क्यों नहीं
लोगों के काम क्यों नहीं आता / लोगों के लिए मरने को तैयार क्यों नहीं रहता

महीनों से मुझे लग रहा है
जैसे जलाये या दफ़नाये जाने के इंतज़ार में
किसी श्मशान या क़ब्रिस्तान पर पड़ा हूं
ठीक से देखो, कहीं मैं अकड़ तो नहीं गया हूं
मेरे शरीर से दुर्गंध तो नहीं आ रही

2. बह रहा हूं नदियों में

महीनों से मेरी चिता धधक रही है
यहां जलने की गंध के अलावा
कुछ भी नहीं है दूर- दूर तक
मुर्दनी के हाहाकार में घुलकर
धूप ठंडी और उदास हो गयी है
नदी में लपटों के साथ थरथरा रहा है चांद
सारी लकड़ियां राख हो चुकी हैं
फिर भी मैं जल रहा हूं सूखी घास की तरह

महीनों से बह रहा हूं नदियों में
सांसों के बिना तिनके जैसा हल्का हो गया हूं
अभी कोई पक्षी मेरे ऊपर उतरा और
एक बड़ा टुकड़ा लेकर उड़ गया
किनारे कुत्ते घात लगाये खड़े हैं
कुछ खाया जा चुका हूं, कुछ सड़ गल गया हूं
फिर भी बह रहा हूं, बहता रहूंगा इसी तरह
जब तक नदी बहती रहेगी

चिता की आंच पहुंच रही है राजधानियों तक
हत्यारों की सांसें भी उखड़ने लगीं हैं
वे भी आयेंगे एक दिन अनजान मुर्दों की
तरह बहते हुए इसी रास्ते

3. मुर्दे

जिनमें दूसरों के लिए मर जाने का साहस होता है
सिर्फ़ वही ज़िंदा रह जाते हैं

मुर्दे अपने पांवों पर खड़े नहीं हो सकते
वे सड़ने लगते हैं कुछ ही दिनों में
जो सुनकर भी नहीं सुन पाये / मरते हुए लोगों की पुकार
जो खुद को बचाने में ही लगे रहे लगातार

वे ज़िंदा कहां बच पाये
मुर्दों को कभी पता नहीं चल पाता कि वे मुर्दे हैं

4. मोबाइल की समझ

हम बार-बार दुख लिखते हैं
तो मोबाइल अनुमान लगा लेता है
कि द से अक्सर दुख ही लिखा जायेगा
दुख और सुख के फ़र्क़ को
वह इतना ही समझ पाता है
कि सुखद लिखते हुए दुखद और दुखद
लिखते हुए सुखद का विकल्प
प्रस्तुत करता है

मोबाइल से बात करते-करते
हम भी धीरे-धीरे स्मार्ट मशीन होते जा रहे हैं
हमें रोते-रोते हंसना और
हंसते-हंसते रोना आ गया है
किसी की मृत्यु पर शोकांजलि
लिखने के एक क्षण बाद ही अगर
हमें लिखना हो, बहुत खुशी हुई
तो कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता

मोबाइल हमारी उंगलियों का / पीछा करता है लगातार
वह देखता रहता है कि हम / क्या देखते हैं कितनी बार
क्या-क्या खोजते हैं बार-बार / प्रेम, घृणा, उदासी, अकेलापन
अश्लीलता या कुछ और / जो किसी को बताना नहीं चाहते
च, स, र या ह लिखते ही सैकड़ों विकल्पों के
साथ उसकी स्मृति आ धमकती है
हमारी मदद के लिए / किसी को शुभकामनाएं भेजनी हैं
तो भेजिए मगर सावधान रहिए
क्योंकि मोबाइल जानता है कि श से आप ने
कई बार शोक लिखा है
कई बार श्रद्धांजलि भी

मो. 9455081894

दो कविताएं : राकेश रेणु

एक रंग : लाल

यह सृजन का रंग है
कोख का माहवारी का रंग
इसी के प्रेम में हुलस कर पुकारा
मां ने तुम्हारा नाम- लाली!

नक्षत्र-दीप्त आकाश में यह रोहिणी का रंग है
चकित करता धरती पुत्रों को
वृषभ मंडल का सबसे चमकदार परिजन।

यह तुम्हारे संकोच का रंग है
हमारे प्रेम का रंग।
यह रंग बताता है
प्रेम कितना प्रिय है तुम्हें!

इस रंग ने डराया बहुत पहली बार
बना रहा फिर भी यह तुम्हारा सबसे प्रिय रंग
अधरों सा खिला-खिला।

यह तुम्हारी वेणी में खोंसा गया पुष्प है
तुम्हारी आभा को बहुगुणित करता।
यह तुम्हारे कुर्ते में टंगा हो सकता है
उसके सबसे नुकीले स्थान पर
ठीक वहां जहां मेरी नज़र जाकर टिकती है
और तुम झुंझलाकर कहती हो
तुम्हें और कुछ सूझता ही नहीं!

मुहावरों और कहावतों में यही रंग लौटा बार-बार
अनेक अर्थ पिरोये गये इसके प्रेम में डूब कर

शर्म से लाल होता रहा यह रंग आसक्ति का
आकर्षण और समर्पण का रंग।

ताक़त और मर्दानगी का यह रंग लुभाता आया है
मर्दाना ताक़त की चाहत वाली ख़ूबसूरत स्त्रियों को
यह भोग का रंग है संभोग का रंग।
यह शिराओं में दौड़ते रक्त का रंग है
जो उबल उठता है
जेल में रेल में खेल में
निरपराध की सोची समझी हत्या पर।

कई बार बहुत डराता है यह रंग
और वह डर वही नहीं होता
पहली बार रजस्वला हुई लड़की के डर सा
रक्त में नहाये आदमी की मौत
विचार को मार नहीं सकती।

रास्ते में बिखरे खून से भौंचक आदमी ने ही
चौराहों पर इस रंग को ठहरने का संकेत बनाया होगा
ग़ज़ब है कि यह खून हर राह मिला
जहां चकित होकर ठिठक गये राहगीर
तभी तो दुनिया ने
इसी रंग को ठहरने का संकेत मंज़ूर किया।

यह गति का रंग है
गतिरोध का काम लिया जाता है जिससे
ट्रैफ़िक लाइटों चौराहों पर।

यह क्रांति का रंग है
दुनिया को बेहतर बनाने के संकल्प का
समता और भाईचारे का रंग।

अपने हकूक़ की आवाज़ उठाते लोग
रंग देना चाहते हैं धरती को इस एक रंग से।

भोर होगी हर रात के बाद
सूरज की इसी लाली से।

एक रंग : नीला

यह चांद रात का रंग है
निशा के बाद उगते भोर का रंग
पिराती गाते थे रीझन बाबा जब भी
बस जाता था यह रंग उनकी आंख में।

यह आसमान का रंग है
बिला जाते हैं जब सारे रंग सूर्य किरणों के
छा जाता है यह आसमान पर आह्लादित करता उसे
और चमत्कृत करता हमें, निस्सीम का रंग।

यह नदी का झील का समुंदर का रंग है
स्वच्छ जल का रंग / दुनिया के दो तिहाई हिस्से में जो है
दो तिहाई हमारे शरीर में
दुनिया के दो तिहाई लोगों का रंग।

यह नील का रंग है
निलहे किसानों का रंग किसानी का।
यह इतिहास के एक नीले अध्याय का रंग है
जो दोहरा रहा है ख़ुद को बार-बार।

यह भागती रेलगाड़ी का रंग है
तेज़ तेज़ बदलती दुनिया में / रिश्तों के ठंडे पड़ने का रंग।
भय का रंग- भोर और भय एक-सा
सब कुछ गड्डमड्ड हो रहा।

एक एक सांस के लिए तड़पते लोगों ने
नदी का ऑक्सीजन कितना सोखा?

मोबाइल : 9868855425

शास्त्र-ज्ञान

वीरेंद्र सारंग

1.

हम मानते थे छूत-अछूत।
थाली में खाते, पत्तल पर खिलाते
लोटे से पानी पीते और अंजुरी से पिलाते।
हम जो कहते छंद में कहते और शास्त्र बघारते,
जैसे यही तन ढंकने का वस्त्र हो।
वह भीगी अंजलि लिये, मूंछों पर चिपकी बूंदों के साथ आता है
और जूठे हाथ, पत्तल समेटकर हम से दूर चला जाता है
और कहीं पानी मिला तो हाथ-पैर धो लेता है।
हमें छूत कैसे लग जाता है, पता नहीं!
मुझे उसके हाथ बहुत पसंद हैं।

2.

रामरतन ने पढ़ ली हैं, एक दो और तीन किताबें
इंद्रावती ने गा लिये हैं, एक दो तीन भजन
बच्चों के नाटक हो गये हैं, गणेश नारद राम कंस कृष्ण।
रामरतन की आलमारी में कई पोथियां हैं
वहीं से याद किया है गीत इंद्रावती ने, और बच्चों ने संवाद।
रामरतन घंटों सुनता है व्यासों के प्रवचन पलथी मारकर,
उसके पैर में झुनझुनी चढ़ जाती है, और उसका ज्ञान...
वह बालू से तेल निकालता हुआ मिला।

तमाम ज्ञान समझ के साथ वह लोकतंत्र खोज रहा है
शिव-शक्ति, नीति-ज्ञान, माया-गोविंद से काम नहीं बना
लोकतंत्र पुकारने पर उसे पुलिस पकड़ती है,
वह कभी वेश्याओं के घर में छिपता है,
जहां दुर्गा की फ़ोटो टंगी है और आगे मिट्टी रखी है
रामरतन जीवनभर चुप रहता है।

रामरतन रास्ते पर नहीं है, और बनाता है मार्ग-चिह्न
वह किताबों से जान गया है कि कौन कामचोर है
वह कूड़ा उठाता है, ड्राइवर है नगरपालिका में
वह पूजना नहीं चाहता जब मिल जाती है पत्थर-पिंडी
उसका कूड़ा-ज्ञान काम नहीं करता
वह रोटी खाकर कूड़े पर आराम करता है।
वह जानता है नक़ल का कमाल,
और झूठ नहीं बोलता
जो विज्ञ हो गये हैं, उनका अधूरापन देखकर हंसता है

रामरतन ने बिस्तर पकड़ लिया है और सुनता है,
'बुड्ढा समय से पहले सठिया गया है, लेकिन मरेगा नहीं।'
देख रहा है रामरतन कि कई लोग पोथी बांच रहे हैं!

मो. 9415763226

दो कविताएं : प्रकाश चंद्रायन

1. कमांड

कमांड ही कमांड है
एकालाप-प्रलाप के साथ कड़क कमांड है

रिपोर्ट है कि अशक्त भारतीय भाषाएं गरज से दहल जाती हैं
सामरिक गूंज से अछोर मटमैले हाशिये के बाहर
सफ़ेद नागरिकताएं अगल-बग़ल हो जाती हैं
जंगी झंडियां मुख्यालय से शाखा तक बेधड़क फहराती हैं

एक कड़क थमी नहीं कि नयी भड़क जाती है
कोई तड़क अपवाद नहीं-
अपवाद ही तो उन्मादी कमांड देता है
कर्कश हुजूम उन्माद का उपभोक्ता होता है

इसका सरलीकरण क्या करें
सारा महारूपक सामने सजा है
चाहें तो लफ़्ज़ों को पढ़ लें
जो लफ़्ज़ नहीं संगीन सज़ा हैं
□
लीजिए, देवनागरी में चंद द्विभाषी कमांड दर्ज हैं - स्लोडाउन/ ब्रेकडाउन /
शटडाउन/ऑर्डर ...
लहरो! रुको,आगे मत बढ़ना...
शब्दो! ख़ामोश,आगे मत बोलना...
क्रैकडाउन /नीलडाउन /आलडाउन /नेशन इन डेंजर...
ध्वनियो! थमो,आगे मत गूंजना...
भाषाओ! चुप्प, कंठ मत खोलना...
ब्रेनडाउन /क्राउल / नॉकडाउन/ ओवर...
संवादो! ठहरो,आगे मत जुड़ना...
नरो! मादाओ! झुको, आगे मत उठना...

और भी क्या-क्या नहीं एकालाप और प्रलाप
कमांड का असली मर्ज़ है डाउन-डाउन का मंत्रजाप
डाउन-डाउन में मिला है स्वाहा-स्वाहा का शुद्ध शाप

कमांड का मौलिक शब्दों से क्या सरोकार?
जैविक अनुवादों की क्या दरकार?
न्यू इंडिया प्रा. लि.देता रहता है
एक एक अक्षर उधार
बहुत तेज़ धार
भीतर की मार

प्रभुभाषा-सहभाषा के शब्दों में भी घातक इरादे छिप नहीं पाते
सारा मूलपाठ पुराना है जिल्दबंदी नयी है
न्यू इंडिया कमांड के भूगोल का नया नाम है
जो जहां जन्मा वहीं सड़े-गड़े मरे-खपे,
यही तो सनातन संविधान है
सुपर इंडिया भी तनी हुई कमान है
तभी तो प्रपंची शब्दसंधान है
पैदाइशी दूरी रहे ! क्रम न टूटे!! हिलो मत!!!
यही तो कमांड का द्विअर्थी प्रावधान है

मानो यह कोई देश नहीं अनवरत हॉरर फ़िल्म हो
कपट से प्रकट तक मेकअप और सेट बदल कर
यहां-वहां भारतीय भाषाओं का रुतबा भले हो कमतर
जहां-तहां पैदल सेना का कोहराम मचा है क्रूरतर
मार...मार...मार...तड़...तड़...तड़...फ़ायर...

इन शब्दावलियों को रटना-रटाना फ़ौजी तर्ज़ है
गुप्त रजिस्टर में आम अवाम बतौर असामी दर्ज है
हक़ीक़त के लिए घटनाक्रम से सामना में क्या हर्ज़ है?
अर्ज़ है कि इस फ़ेहरिस्त को गुनना
हर सच्चे नागरिक का बुनियादी फ़र्ज़ है

गुनना है कि शब्द भाषा ध्वनि संवाद पर यह बरसता कोड़ा है
चुनना है कि हर प्रतिकार में भी

शब्द भाषा ध्वनि संवाद ही अंतर्धारा है
इन्हीं में रची-बसी अटूट जीवनधारा है

□

कमांड ही कमांड है,
विकराल कांड गढ़ता विधिवत कर्मकांड है
मुंडों और शून्यों के शिखर पर आसीन डॉन ही डॉन है
सबसे ऊपर वैदिक और वैधानिक का साझा ब्रांड है
फलाफल में निशाने पर मटमैला हाशियास्तान है

जनगण क्या पुराकालीन मृद्भांड है
संग्रहालयों में संरक्षित, सुरक्षित और प्रदर्शित
अतीतभक्षियों के कुपाठों में मृत-विस्मृत
कारा-दर-कारा आजीवन अर्धमृत!!

हर वर्तमान का उत्तरोत्तर कमांड है
अतीत में प्रमाण ही प्रमाण है
हर निडर सांस भविष्य की जान है
जान है
जान है

2. शकुबाई का सफ़ाईनामा

यदा-कदा राजधानी शिखर से तल देख लेती है
और मस्त रहती है
कभी-कभार शकुबाई भी नीचे से ऊपर ताक लेती है
और व्यस्त रहती है.
यही असम जीवन है विषम दृष्टि है,
सोचें तो यह किसकी कैसी विकट निर्मिति है.

शकुबाई भी एक जीवन है एक सृष्टि है,
संस्कार आड़े न आये तो आओ उसे जान लें,
उसका काम क्यों न पहचान लें

□

शकुबाई खांटी मूलनिवासी है,
बोलचाल में ठेठ देसी है
तीन दशकों से झाड़ू मारती हुई
वह पृथ्वी की चहेती बेटी है
सड़क ही उसकी रोज़ी है सफ़ाई ही रोटी है
पवित्रों की पोथी में पंचमवर्ण और खोट्टी है
अव्वल तो प्रकृति की साफ़ सुघड़ सलोनी पोती है

कई दशक वह इंडिया में झाड़ू फिराती रही
अब न्यू इंडिया को साफ़सूफ करती है
न्यू इंडिया की कूटभाषा में सफ़ाई-सेवा आध्यात्मिक अनुभव है
और शकुबाइयां सनातन परंपरा की संवाहक
जैसे काशी के डोमराज और मिथिला के महापात्र

गली-सड़क चमकाती शकुबाई कुछ बुदबुदाती है
कान खड़े कर सुनो तो देसकोस से अपनी तुक मिलाती है
तुक मिलाती घूमती है श्याम बैरागी की राष्ट्रीय कविता
गाड़ीवाला आया घर से कचरा निकाल...
जोड़ती है शकुबाई पहले दिल से निकाल दिमाग़ धो डाल

स्वच्छता का इरादा कर लिया हमने सुनाती आती है
जबतक कूड़ागाड़ी
डॉगियों को पॉटी कराते सफ़ेदपोश गंदों को दे चुकती है
तबतक गिन-गिन कर गारी
कहती है गान्ही के चश्मे से नहीं निकलता इरादा,
यह तो है सरकारी अजायबघर में रखा फटा-पुराना वादा

शकुबाई का दिमाग़ है चुभते फ़िकरों का कारख़ाना,
जैसे ही राजधानी से जारी होता है कोई फ़रमान
वह फिक से हंस देती है,
कोई चुस्त फ़िकरा कस देती है.

□

जब आधी रात हुई लॉकडाउन की मारक मुनादी,

तब शकुबाई को हुई बला की हैरानी
कालेजिया बेटी ने विलगा-विलगा कर बूझाया
लॉकडाउन में लकडॉन और लकडाउन का असल मानी
फिर न तालाबंदी न देशबंदी
शकुबाई ने चट से कह दिया
यह तो है लकडॉन का खुला खेल फ़र्रुख़ाबादी
जैसे नोटबंदी थी उच्चश्रेणी की चांदी
और निम्नश्रेणी की बर्बादी

जैसे ही शकुबाई लकडॉन बोल गयी
अंग्रेज़ी तो दूर हिंदी भी चौंक गयी
वह तो कामकाजी बोली बोलती है
छठे-छमाहे भाषा का तड़का भी लगा लेती है
गाहे-बगाहे चाय टपरी पर सुस्ताती
अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दों को भी पी लेती है
अपनी चलती-फिरती समझ से लफ़्ज़ों का फ़र्क़ भी बूझ लेती है,
इसी समझ-बूझ से जटिल ज़िदगी जी लेती है
मज़े-मज़े में कोई नया शब्द भी गढ़ लेती है
भले ही वह क्यों न हो उलटबांसी जैसी!

अचक्के फ़र्राटे से एक शब्द का जुड़वां सच झलका गयी,
जैसे खर्राटे से गली-सड़क चमका गयी
बात साफ़ है कि लॉकडाउन न्यू इंडिया का लकडॉन हुआ
लगे हाथ उदास हिंदुस्तान का लकडाउन भी तय हुआ
तत्सम में शिखर का भाग्योदय और चुनिंदों का सौभाग्य
बोलीचाली में खट्टू हिंद का दुर्भाग्य ही दुर्भाग्य
सौभाग्य ख़ातों में बढ़ता शून्य चढ़ता सूचकांक है
दुर्भाग्य के बट्टे खाते में डाला जाता स्याह हिंदुस्तान है
□
शकुबाई ऐसा तीखे-करारे बोलती है
जैसा कोई संसद में भी बोल देता
जिनके मुंह घी-शक्कर, वे कड़वा सच कैसे बोलेंगे?
ठोक के बोली शकुबाई कि कोरोना-कोरोना तो ठीक भजे हो
पर, ग़रीबी सबसे बड़ी महामारी है जिसका विषाणु अमीरी है

महामारियां आती हैं भूखी अमीरी की तरह जाना तय नहीं
विषाणु-कीटाणु भी अमीरी कारोबार हैं क्या यह सूत्र नहीं?
कचरा तल में बसता है बकता-चीखता है न्यू इंडिया
कूड़ा शिखर से गिरता है तोलता-ब़ोलता है हाशिया

भांय-भांय लाकडाउन में भी शकुबाई
बिला नागा सड़क चमकाती रही
न कोई दीया जला न शंख गूंजा,
न ताली-थाली बजी न फूल बरखा
जुग-जुगन से अबतक बचके आते-जाते रहे संस्कारी
बिलगाव में ही चलता रहा शकु के जीवन का चरखा

थकी-मांदी शकुबाई जब रोटीपानी कर जिराती है
तब एक गाना अपने तर्ज़ में गाती है
हम उस देश के वासी हैं
जहां गटर-गंगा बहती है
नमामि गंगे में धर्म अर्थ काम मोक्ष बिकता है
गटर-गंगा रोजाना मौत का कुंड बनती है
न देश सिहरता है न शिखर का झंडा झुकता है
□
जैसी उसकी पुश्तैनी खोली है
वैसी ही पैदाइशी बोली है
कोई लाग-लपेट नहीं
कोई बनावट-रुकावट नहीं
बोलती है तो रपेट देती है
जो चपेट में आ गया उसे सरपेट देती है

कित्ता बोलूं जुलम के वही पुराने ढर्रे
देखे जित्ते राजपाट सारे ढोंग करे
सुबह महाकुंभ में पैर पखारे
दोपहर पीठ की चाम उघाड़े
शाम देह-खेत की जबरजोत जुगाड़े
हंसों से नहीं कौवों से पूछो किसने हमन के पुरखे मारे?

शास्तर में हम कगार-किनारे
छौनी-छप्पर खोज-खोज उजाड़े
ये तालाबंदी क्या तालाबंदी,
पोथिया तालाबंदी टरै न टारे
झुक-झुक जीयें जब मरैं तभी टांग पसारे
हमरी परछाईं भी नाशक,बांचैं संस्कारी सारे

तैरता रहता है एक मौन मंत्रालाप
बचके रहना ओ बाबू बचके बच बच के!
समाजी संक्रमण बड़ा घातक
बचके रहना ओ बाबा बचके बच बच के!

राजधानियों से जितने लाख काग़ज़ी सपने गिरे
उसने सब पर झाड़ू मारे
वे चाहे पतझर के हों या बारिश के
शीत के हों या लू के
उसने सबकी कलई उतारी
जब-जब उसे अनेत लगा
वह डटकर डपटी-अरे! मार बढ़नी रे...
मेनहोलों के खूनी मुंह तो पाट न सके
चले चांद के गड्ढों का फोटू लाने
ये चमकदार झंडू लोगां गंद बुहारें तो जानें
थेथर हैं सब जो बढ़नी थामते हैं थोबरा छपवाने

तल पर धूल-धक्कड़ खाती
शकुबाई का काम शिखर की ख़िदमत है
मौक़े पर चुटीले फ़िकरे कसना उसकी देसी फ़ितरत है
कोई सुने न सुने वह सड़क को सुनाती-बतियाती है
सड़क उसका कठिन सफ़ाईनामा दर्ज करती जाती है
शायद किसी साहित्य तक पहुंच सके उसका मरम
तब प्रामाणिक होगा कोई रचनाकर्म वरना सब भरम

मो. 9273090402

तीन कविताएं / शैलेन्द्र चौहान

1. आदिवासी

स्नायुतंत्र में
प्रविष्ट हो चुकी
शोधित वायु

मस्तिष्क, धमनियां
शिराएं, कोशिकाएं
सचेत

चौतरफा चिल्ल-पों
जर्जर होते ही शरीर
फूल गया
गुब्बारे सा

हीलियम नहीं
भरी कार्बन डाइ ऑक्साइड
तड़कता हाड़-मांस
भयानक पीड़ा मन में

अच्छी सेहत को
दरकार संसाधन
ओषधि
अति महंगी

कपूर और लौंग बांध
हाथों में
दूर भगाते
चिकनगुन्या,

मलेरिया, डेंगू

विपन्न भील
मालवा, निमाड़ के

2. मिथ

मेहनत से होता शरीर
और मज़बूत
कैसी भी रहे काठी किसान की
उसमें शक्ति और स्फूर्ति
रहेगी भरपूर

श्रमिक काया
होगी बलिष्ठ, मज़बूत
पत्थर सी

जिम, अखाड़े और
खेल के मैदान
इसीलिए तो
नहीं बनाये जाते
गांव-देहात,
श्रमिक,
ग़रीब बस्तियों में

सूखे मेवे, फल, दूध
मांस, मछली अंडे
शक्तिवर्धक पेय
ज़रूरी नहीं
उनके लिए

जड़ी-बूटियां
मिल जाती मुफ़्त
जंगलों में

शरीर उनका हाड़-मांस का नहीं
पत्थर का होता है
खाने को ना मिले कुछ भी
तब भी रहते स्वस्थ
आदिवासी इलाक़ों में

हाट के दिन
मरियल, तेजहीन, बीमार
चेहरों वाली अनेकों
मनुष्याकृतियां
टहलतीं

मेहनती वे शरीर
गैस, एसिडिटी, जोड़ों के दर्द,
बुख़ार, ल्युकेमिया,
इन्सोम्निया से पीड़ित
तीस-पैंतीस की उम्र में
लगते बूढ़े

बिरसा मुंडा
और टंट्या भील के
अभागे बहादुर वारिस
ख़रीदते गांवड़ी हाट से
प्लास्टिक की सस्ती चप्पलें,
ख़राब अनाज,
पके हुए केले,
बीड़ियां और तंबाखू

3. कोंडबा

कर रहा यह कौन
ध्वनि

खच-खच की यहां
किस तरफ़?
पार्श्व में
दायें या बायें

सामने दीख पड़ता नहीं कुछ भी
दूर तक
चहारदीवारी ऊंची
पृष्ठ भाग में सड़क एक
पतली-सी

काटता कोई हेज या
गुलाबों की टहनियां
दे रहा आकार छोटे-छोटे
रुपहले पौधों को

दोनों हाथों से चलाता
लचीला टीन की तलवार
घास और खरपतवार
कर रहा साफ़
सुनायी दे रही ध्वनि लगातार
कौन है वह
श्रमिक, सैनिक, चौकीदार?

ध्वनियों का
नित्य प्रति का साथ
बाग़ में माली
लकड़हारा जंगल में
मज़दूर
सड़कों, इमारतों के बनाने में

ठक ठक वसूले की
गैंती की धप्प
खर-खर आरा मशीनों की

मोटरगाड़ियों के इंजिनों का शोर
कारख़ानों में लोहपट्टों का
गलना और ढलना
हथोड़े की मार
उत्पादन अनेक किस्मों के
गोरैया की चिऊं चिऊं
कठफोड़वा की खट-खट
रंभाना गायों का

फंतासी नहीं यह
न रहस्य ही कोई घना
बहुत ही सरल और साधारण
यह तथ्य
वास्तविक और सच
पीछे पतली सड़क के किनारे
बारिश में उगी घास वह छीलता
फावड़े से अनथक
वृद्ध आदिवासी वह गौंड़

जानता हूं वर्षों से उसे
देखता घास ढोते हुए
खींचते कचरे की टूटी हुई ठेली
नालियों का साफ़ करते मैल
संभ्रांत लोगों के घरों से
चमकाते बाथरूम और
लेटरिन की टाइलें, कमोड

उम्र पचहत्तर वर्ष
नाम कोंडबा
दिखा नहीं सकते दया भी उस पर
अदम्य बल उसके देह, जांगर में

बहसें संसदों और असेम्बलियों में
निरंतर होती हों जहां

सबल नागरिकों के पराभव को
वैध साबित करने की
पेप्सी, कोकाकोला को निर्मल
बताने की

रिश्वतों को रक्षानुकूल, सैनिकानुकूल
बनाने की
तब इस राष्ट्र में कोंडबा के
नागरिक पराभव का ख़ाता
कौन ऑडिट करेगा?

हाथ, घुटने, पेट की तकलीफ़ का
बीमा कहां होगा?
कौन मरने पर कोंडबा के
शोक प्रस्ताव लायेगा?
प्रेस में जायेगा कहने कौन
देश की भारी क्षति हुई है
न रहने पर कोंडबा के
चलती रहेगी घास पर तलवार उसकी
घास बढ़-बढ़ कर कटती रहेगी,
बढ़ती रहेगी

बहस संसद में चलती रहेगी
देशहित में
कोंडबा जीता रहेगा
मरता रहेगा
अनजान संसद से
संसद भी जारी रहेगी
बेअसर अनजान
अस्तित्व से उसके

मो.7838897877

अपनी ईजा अपनी धरती

अनुपम सनवाल

पार्वती ने रचा था गणेश को
मिट्टी में स्वेद गूंद कर
वैसे ही हमें भी हमारी ईजा ने बड़ा किया
खेतों में अपनी हड्डियां, अपनी जवानी मिला कर
इन खेतों इन पहाड़ों में बसी है
हमारी मां की सारी दास्तां
उसकी पीड़ा
उसका दर्द
जो उससे गुज़रा था हर रोज़
इस कठोर निर्दयी पहाड़ पर

यह माटी यह धरती ही उसकी सच्ची सखी थी
जब वह किसी से कुछ न कह पाती
तो दातुली से मिट्टी पर उकेरती थी
धरती से संवाद के कुछ रेखण
वह उसी के पास रोज़ जा
बटोर के लाती घास
सुबह शाम नौले से पानी
मिट्टी के चूल्हे पे सेंकती रोटी
और अपने घावों पर लगाती मिट्टी का लेप
सब बैठते घरों में चौके और चटाई पर
वह चौका होने पर भी बैठती
अपनी धरती अपनी सखी के पास

मां को ईजा कहोगे
तो मिट्टी को जडजा (मौसी) कहना ही पड़ेगा।
और कभी मां का दर्द जानना हो
तो आ के बैठना अपनी जडजा के पास

भविष्य में मां के न रहने पर भी
वह रहेगी
तुम कहीं भी हो
किस भी हालत में
मां की याद सताये, जी घबराये
तो चले आना
अपनी मिट्टी के पास
अपने खेतों के पास
वह जडजा है वह मां जैसा प्यार देगी
अपना आंचल अपनी थाह देगी

वह तो थाती है
सदियों से देती आयी है और आगे भी देती रहेगी
पर क्या तुम रख सकोगे
उससे सच्ची प्रीति
उससे सच्चा प्रेम
अपने सक्षम और उसकी ज़रूरत न होने पर भी

गणेश को तो मां की आज्ञा सर्वोपरि थी
प्राणों का मोल ही क्या था
पर क्या तुम गणेश होने की चाहत रख सकोगे
संजो के रख सकोगे
अपनी माता
अपनी मिट्टी
अपनी धरती
अपनी नदियां
अपना पहाड़।

मो. 7506109008/6398494381

ज्ञानी बुज़ुर्ग कहते हैं

द्वारिका प्रसाद 'चारुमित्र'

ज्ञानी बुज़ुर्ग कहते हैं
साईं के पाप से डरो
भाई के शाप से डरो
बुराई से डरो
अपने अंदर की
छुपी इकाई से डरो

ज्ञानी बुज़ुर्ग कहते हैं
डरो खाई और ऊंचाई से
जो जुदा कर दे
उस जुदाई से डरो
डरो कि डरना बहुत ज़रूरी है
ज्ञानी बुज़ुर्ग यह भी कहते हैं
दबे हुओं की हूक़ और हाय से डरो

उस पीड़ा से डरो / जो व्यक्त न हो पाये
डरो कि डरना बहुत ज़रूरी है

जहां बोलना ज़रूरी हो
वहां चुप न रहो
चुप रहने से डरो

डरो कि डरना बहुत ज़रूरी है
मगर जहां ज़रूरत है
तुम्हारे साहस की
वहां निडर रहो
वहां डरने से डरो
ज्ञानी बुज़ुर्ग कहते हैं।

मो. 9811535148

दो कविताएं : अंजन कुमार

1. इस वक़्त

दो सलाइयां
बुन रही हैं
जल में डूबा हुआ चांद

इस वक़्त हर आवाज़
एक कंकड़ है
नदी के लिए।

2. नये कपाट पर

एक पुराना ताला जड़ा हुआ है
नये कपाट पर
मोतियाबिंद पुराना
जैसे आंख पर

मुंह की बन गयी है बनावट कुछ ऐसी
हर बार फंस ही जाता दाना
दुखता रह-रहकर
पड़ता पछताना

शैवालों से
भर गया है सरोवर
कोई कैसे देखे जल के भीतर?

मो. 7389854923

चार कविताएं : सीरज सक्सेना

1

चुप है
रेल की पटरियां
एक दूसरे के
बेहद पास

देह की गंध
बांधे है
उन्हें

सख़्त है
तुम्हारी
पदचाप

मधुर
एक लय में
यह आलिंगन का स्वर

प्रेम का किनारा तुम्हारे भीतर
डोलता है
पटरियों के ऊपर बने सेतु पर
चलते हम

सांझ की
यह ध्वनि
अब रात में
बदलती है।

2

कई सदियों में डूबे
तुम्हारे स्पर्श

नम करते हैं
मेरी हथेली

ट्राम से आ रही
खट खट

हर क्षण
तिरोहित कर रही है
एक एक सदी

तुम्हारा
परिपक्व प्रेम
मेरे साथ
चल रहा है

तुम्हारी बंद आंखें
मेरे वर्तमान में
चुपके से
खुलती हैं

तुम्हारे स्वप्न में
स्पर्श करता हूं
तुम्हारी
नम
उंगलियां

3

दैहिक विस्तार और उजास के
किस कोने में है
प्रेम

नहीं
दिखता

हर बार
तुम्हारे
पके
सुनहरे बाल
उसे
ढांक लेते हैं

गुज़रा समय
अब भी
तुम्हारे साथ
ठहरा है।

4

अपनी भाषा में नहीं
कह पाता तुम्हें अपनी बात
तुम भी परायी भाषा
में ही कहती हो

सिर्फ़ स्पर्श ही
ख़ुशबू की तरह
भाषा के इस दोष
और उसकी क़ैद से
मुक्त

बह रहे हैं
स्वतंत्र

मौन अब शृंगार
करता है
उसका व्याकरण
हम रचते हैं।

मो . 9868514534

तीन कविताएं : मनीष सिन्हा मुसाफ़िर

क़ुतुब मीनार हाज़िर हो

क़ुतुब मीनार को
क़ैद कर लिया गया है
उस पर सेडीशन का चार्ज है
कहते हैं उसने एक धर्म की
भावनाओं को ठेस पहुंचायी है

'नाम क्या है तुम्हारा?'
'जी, क़ुतुब मीनार'

'बाप का नाम?'
'क़ुतुबुद्दीन ऐबक़,
सर, लेकिन मेरे तीन और बाप हैं
इल्तुतमश, फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़
और अलाउद्दीन ख़िलजी'

'क्या बकते हो?

उमर?'
'828 साल'
'पागल हो गये हो क्या?

अच्छा कुछ लोग कह रहे हैं
कि तुमने धार्मिक भावनाओं
को ठेस पहुंचायी है
कि तुम्हारे अंदर हिंदू और जैन मूर्तियां हैं
लेकिन तुम

अपने आप को मस्जिद कहते हो'

'सर, आठ सौ साल पहले की बात
तो बिल्कुल याद नहीं

लेकिन अब तो मैं दिल्ली-वाला हूं

सर्दी की धूप
300 से ज़्यादा पीएम 2.5 वाली हवा
पंजाबियत
बिहारीपन
इंसानियत
इन सबको लपेटे खड़ा हूं

मेरे यहां हिंदू-मुस्लिम नहीं आते साहब
आते हैं
फ़ोटोग्राफ़र्स
आशिक़
शायर
सात समंदर पार से टूरिस्ट
आंखों में मासूमियत लिये बच्चे
उम्मीद लिये बड़े बूढ़े

सर, इतिहास का भी कोई धर्म होता है
या संस्कृति
या भाषा का?

इतना काफ़ी नहीं
कि हम उसके समावेश का लुत्फ़ लें

क्यों ढूंढ़ते हैं
पुरानी इमारतों और मीनारों
की ईंटों, पत्थरों का धर्म?

इन बूढ़ी रगों में
भारत का लहू दौड़ रहा है

मैं क़ुतुब मीनार
गीता, क़ुरान, बाइबल, गुरुग्रंथ साहिब पर
हाथ रख कर कहता हूं
मैंने जो कहा, सच कहा
सच के सिवा कुछ नहीं कहा।

2. लफ़्फ़ाज़गर

किसी लफ़्फ़ाज़गर से
मिले हो कभी?
या कभी किसी लफ़्फ़ाज़ख़ाने के अंदर पैर रखा है?
बड़ा अजीब कुनबा है इनका
इनके लफ़्फ़ाज़ों में
कारोबार का पूरा हवाई क़िला छुपा रहता है
जादू है इनकी बातों में
अपने ख़यालों और हुनर से
साहूकार को कलाकार से बड़ा बना देते हैं
और सतही चीज़ों में गहराई छुपा देते हैं
लफ़्फ़ाज़गर
रेडियो और टीवी के रास्ते
दिलोदिमाग़ पे छा जाते हैं
सुना है
आलू चिप्स में हेल्थ डाल देते हैं
शराब में ढाई सौ साल पुराना इतिहास
और चीनी से घुले काले पानी में
खुशियों की पूरी फ़ैक्ट्री
बातों का इतना हैरतंगेज़ सर्कस
और कहीं देखने को नहीं मिलेगा
छोटा लफ़्फ़ाज़ / बड़ा लफ़्फ़ाज़
वो दुनिया छोड़ दी तुमने 'मुसाफ़िर'
नहीं तो किसी क़बीले के तुम भी होते
सरदारे लफ़्फ़ाज़।

3. छलांग

कहते हैं
हमें पानी नहीं डुबोता
हमारा डर हमें डुबोता है

हम सब के अंदर एक नदी है
जिसके रुख़ और बहाव की डोर
हमारे हाथों में है

छपाक्

कुछ लोग ज़िंदगी भर
नदी किनारे पैर डुबोये बैठे रह जाते
कुछ उसकी तेज़ धार के साथ दूर तक जाते
और कुछ उस की गहराइयों में
गोता लगा मोती-सीप निकाल पाते

छपाक्

छलांग लगाने की कोई उम्र नहीं होती
कुछ डूबने के डर से कभी हिम्मत नहीं जुटा पाते
कुछ उम्र की दहलीज़ लांघ कर भी गोता लगाते

छपाक्

'मुसाफ़िर' इस साल नदी फिर करवटें बदल रही है
चलो तैर कर आते हैं

दूर किसी तट पर
कोई तुम्हारा इंतज़ार कर रहा है

ईमेल : forever.musafir42@gmail.com

ग़ज़ल

नसीम अजमल

(रहमान मुसव्विर की नज़्र)

क्या ख़ूब मुझ पे ज़ुल्म सितमगर किया गया
मुझ को बुला के बज़्म से बाहर किया गया

लाज़िम थी उसके हुस्न की ताअज़ीम कुछ तो फिर
क़तरे को मौज, मौज को सागर किया गया

आसूदगाान-ए-ख़्वाब सभी हो गये जनाब
आवारगान-ए-शौक़ को पत्थर किया गया

दस्तार शाह की जो सजाते रहे उन्हें
रुतबे में आसमां के बराबर किया गया

ख़ामोशियों को लोग लगाते रहे गले
हक़ की सदा को शहर के बाहर किया गया

दोनों जहां के क़त्ल का मुज़रिम मैं ही तो हूं
कुछ शोर इस तरह मेरे दर पर किया गया

ज़र्रा था किसकी ख़ाक का जो चंद्रमा बना
क़तरा ये किस लहू का समंदर किया गया

इन शायरों के बीच कहां था मेरा मक़ाम
थी मसलहत जो मुझको सुख़नवर किया गया

मो. 88265 70566 88

कहानी

दाहकर्म

नर्मदेश्वर

पेड़ों पर चढ़ने वाले ये जंगली बंवर किसी रस्सी से अधिक मज़बूत होते हैं। बंवर को दो टुकड़ों को ज़मीन पर एक-दूसरे के समानांतर बिछा कर दिन्देश ने उन पर बीनी-बटोरी और काटी हुई लकड़ियों को करीने से सजाया, गट्ठर बांधने से पहले उसने सबसे लंबी लकड़ी को उसके एक छोर से दो हाथ बाहर निकाल कर एक टेक बनाया। इस टेक के सहारे उसे गट्ठर उठाने और उतारने में किसी से मदद लेने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। गट्ठर में टांगी खोंसकर दिन्देश ने माथे का पसीना पोंछा और सुस्ताने के लिए एक घनी झाड़ी की छांह में बैठ गया।

अचानक उसे अपनी बकरियों की याद आयी। बंवर लाने जा रहा था तब तक तो वे यहीं थीं। कहां चली गयीं ? पहाड़ पर वे पहली बार आयीं हैं। जंगल पहाड़ के रास्तों से वे बिल्कुल अपरिचित हैं। भटक गयीं तों खोज पाना मुश्किल होगा। उसे अपने लड़के पर गुस्सा आया। बिना किसी राय-मशविरे के इन्हें अपने बूढ़े बाप के पास पहुंचा गया। उसे क्या पता कि बाप की तबीयत कैसी है। सुबह सुबह आया और कहने लगा, 'इन्हें तुम्हीं संभालो बापू। तुम्हारी बहू अभी नयी-नयी आयी है। वह घर से बाहर नहीं निकलती। मैं कटनी करूं या इन्हें चराने ले जाऊं? तुम्हारे पास रहेंगी तो करगा में घूम फिर लेंगी। पानी पिलाने के लिए भी इन्हें दूर नहीं ले जाना पड़ेगा। बांध घर से दूर नहीं और उसका पानी भी गर्मी में नहीं सूखता।'

'ठीक है, इन्हें यहीं छोड़ जाओ। मैं इन्हें संभाल लूंगा। बहू का ख़याल रखना और कटनी करते वक़्त दूसरे कटनीहारों से दूरी बनाये रखना। नाक-मुंह पर गमछा लपेटे रहना और सुबह-शाम काढ़ा ज़रूर पीना। किसी की मंजिल-माटी में मत जाना। बिरादरी में किसी की मौत हो जाये तो मुझे ख़बर देना।' अपनी नाक छिड़कते हुए दिन्देश ने कहा था और घर के सामने फैली चटान पर टांगी पजाने लगा था। चलने-फिरने की इच्छा नहीं हो रही थी, फिर भी वह पहाड़ जाने के लिए तैयार था। सर्दी-खांसी और देह-दर्द भी कोई बीमारी है, अपने आप ठीक हो जायेगी। लकड़ियां नहीं लायेगा तो नमक-तेल का इंतज़ाम कैसे हो पायेगा। देर तक वह अपने बेटे को वापस जाते देखता रहा था और फिर बकरियों को हांकते-खदेड़ते पहाड़ चढ़ आया था।

ये बकरियां उसकी मृत पत्नी की आख़िरी निशानी हैं। जमुनी को दूध पिलाने के नाम पर वह अपने मायके से एक बकरी मांग लायी थी। कुछ ही सालों में उसके पास दस-पंद्रह बकरियां हो गयी थीं। घर का काम-काज निपटा कर वह उन्हें चराने निकल जाती थी। ये बकरियां नहीं होतीं तो जमुनी की शादी में पैसों का इंतज़ाम कहां से होता? ईश्वर की मर्ज़ी से जमुनी को अच्छा घर-वर मिला है। उसकी ससुराल अपनी ही पंचायत में है। मुश्किल से दो-तीन मील दूर होगी। शहर बाज़ार के बहाने वह अपने

भाई-भौजाई से मिलने अक्सर आ जाती है। अपने बाप को गांव से दूर करगा में अकेले रहते देख कर वह बहुत दुखी होती है। जमुनी जैसी बेटी सबको नहीं मिलती।

सूरज तपने लगा था। धूप तेज़ थी। लू चलने लगी थी। झाड़ी से बाहर निकलने का मन नहीं कर रहा था, लेकिन मजबूरी थी। देर करने पर बकरियां दूर निकल सकती हैं। क्या उसकी बकरियां भी धूप से बचने के लिए झाड़ियों में घुस गयी हैं, झाड़ी से बाहर निकलते ही दिन्देश ने सोचा। उसने पैरों के पास पड़े पत्थर के चार-पांच टुकड़े उठाये और उन्हे दायें-बायें झाड़ियों में फेंका। में-में करती बकरियां बाहर निकल आयीं। उन्हें पहाड़ से नीचे उतरने वाले घाट की ओर हांककर दिन्देश ने गट्ठर सर पर उठाया और बकरियों के पीछे-पीछे चलने लगा। पहाड़ के माथे पर आकर उसने नीचे देखा, करगा में खड़ा उसका अकेला घर साफ़ दिख रहा था। बकरियां अब बिना हांके चल रही थीं। शायद उन्हें प्यास लगी थी। उनकी नज़रें बांध के पानी पर टिकी थीं। चिलमिलाती धूप में झिलमिलाता बांध का पानी उन्हें अपनी ओर खींच रहा था।

सर का गट्ठर अपने घर की बाहरी दीवार पर टिकाकर दिन्देश ने राहत की सांस ली। दरवाज़े पर लगे बांस के चांचर को खोलकर वह भीतर गया और एक लोटा पानी खड़े-खड़े गटक गया। बकरियां भी पानी पीकर ताड़ के पेड़ों के नीचे खड़ी थीं। दिन्देश उन्हे घर के भीतर हांक लाया और अपने तख़्त के पायताने गड़े पायों में बांध दिया। उसके सर में दर्द हो रहा था। थोड़ी देर आराम कर लेने लिए वह स्वनिर्मित ताड़ की तख़्त पर लेट गया। चौकी या चारपाई की तरह इसे उठा कर यहां से वहां नहीं ले जा सकते । इसके चारों पाये ज़मीन में गड़े हैं और ऊपर चार बांसों का आयताकार ढांचा बंधा है । उस ढांचे पर ताड़ पत्तियों के नीचें पाये जाने वाले मज़बूत डांठों को बिछाकर उन पर कांटियां ठोंक दी गयी हैं। इस घर की दीवारें बाप-बेटे ने मिल कर उठायी हैं। छप्पर के लिए मूंज, बांस और लकड़ियां दिन्देश पहाड़ से लाया है। सिर्फ़ दरवाज़े पर लगा चांचर बढ़ई ने बनाया है। बढ़ई की मज़दूरी भी उसने जलावन की लकड़ियां देकर चुकायी है।

इसी तरह लेटा रहा तो नींद आ जायेगी। आराम करने से काम नहीं चलेगा। आज का काम कल पर छोड़ना ठीक नहीं। लकड़ियां बेचकर ज़रूरी सामान ख़रीदते आऊंगा। दिन्देश तख़्त छोड़कर खड़ा हो गया। उसने चांचर बंद की और गट्ठर उठाकर गांव की ओर चल पड़ा।

गांव में सन्नाटा पसरा था। गलियां सूनी थी। नालियों के कीचड़-पानी में कुत्ते पड़े थे। वे गर्मी से बेहाल थे। चन्दर साह अपनी दुकान में बैठे झपकी ले रहे थे।

'लकड़ी लेना है साहजी?' टेक के सहारे लकड़ी का गट्ठर सर से उतार कर दिन्देश ने पूछा।

'अरे नहीं दिन्देश भाई। मेरे घर गैस पर खाना बनता है।' आंखें मलते हुए साह जी ने कहा और उठ कर दरवाज़े पर आ गये, 'अरे दिनेश तुम्हारी आंखें लाल क्यों हैं?'

'दो तीन दिनों से तबीयत ठीक नहीं है।'

'तो आराम करते, लकड़ियां बाद में बेचते।'

'हमारे जैसे लोगों के भाग्य में आराम कहां है सेठ जी?'

'पिछले साल तुम खपड़ा के लिए पूछ रहे थे। मेरे गोशाले में तीन चार हज़ार बेकार पड़े हैं। हट जाते तो सांप-बिच्छू का ख़तरा नहीं रहता।'

'अभी पैसे नहीं है साह जी। इस साल अरहर की फ़सल अच्छी नहीं हुई है। अगले साल सोचेंगे।'

'पैसों की क्या चिंता करते हो? धीरे-धीरे देते रहना।'

'अपने बेटे से पूछ कर बताऊंगा।' गट्ठर को सर पर उठाते वक्त दिन्देश के पांव लड़खड़ा गये।

'काश कोई लकड़ियां ख़रीद लेता। पता नहीं कब तक भटकना पड़ेगा। आज भी अधिकांश घरों में गैस चूल्हे नहीं जलते हैं। सरकारी योजना का लाभ संपन्न लोगों तक ही पहुंचा है। लकड़ियों के ग्राहक ग़रीब लोग ही बचे हैं। वे बहुत मोल-भाव करते हैं। पहले की तरह अब कोई माल-मवेशी नहीं पालता। गोयठों और लकड़ियों की मांग इसी के चलते बरक़रार है। कोई न कोई ग्राहक ज़रूर मिल जायेगा। पैसे हाथ मे आ जाते तो सर दर्द की दवा ख़रीद लेता', असह्य दर्द से परेशान दिन्देश ने सोचा।

दिन्देश गांव की गलियों में चक्कर काटता फिरा। अधिकांश घरों के दरवाज़े बंद थे। कुछ घरों की औरतें दरवाज़ों पर बैठी थीं। उनके मुंह नाक साड़ी के आंचल से ढंके थे। लोग उसे पास आते देखकर अपने दरवाज़े बंद कर लेते थे। गांव भर में चुप्पी और दहशत फैली थी। ऐसी महामारी उसने अपने होश में नहीं देखी है। अंततः वह दासी विन्द के घर की ओर चल पड़ा। वह अपने घर में महुआ की दारू बनाता है। भट्ठी में जलाने के लिए वह उसकी लकड़ियां ज़रूर ख़रीद लेगा।

उसके घर से दो लोग दारू की बोतल लेकर निकल रहे थे। दासी उन्हें छोड़ने दरवाज़े तक आया था।

'क्यों दासी भाई, लकड़ियों की ज़रूरत है?'

'अरे नहीं भाई। दारू पीने वाले कुछ लोग मेरी ज़रूरत भर लकड़ियां हरदम पहुंचाते रहते हैं। मेरी दारू भी बिक जाती है और मुझे लकड़ियों के लिए नक़द पैसे नहीं देने पड़ते। तुम तो दारू नहीं पीते?' किवाड़ बंद करते हुए दासी ने कहा।

अब और चक्कर मारना संभव नहीं था। एक तो वैशाख की भरी दुपहरी और ऊपर से यह भारी गट्ठर। प्यास और थकान से दिन्देश की आंखों के आगे चिनगारियां छिटक रही थीं। पांव जवाब दे रहे थे। अब और चल पाना पुश्किल लग रहा था। गट्ठर लेकर वापस लौटने से अच्छा है कि इसे अपने बेटे ने यहां छोड़ जाये। दिन्देश अपने घर की ओर चल पड़ा। उसकी बहू दरवाज़े पर खड़ी थी। उसे देखते ही उसने दरवाज़ा धड़ाम से बंद कर दिया। शायद वह उसे नहीं पहचान पायी हो या फिर वह स्नान करने जा रही हो? दिन्देश अपने घर से लगे मिट्टी के चबूतरे पर बैठ गया।

दिन्देश ने पिछले साल ऐसी ही ग़लती की थी। वैसे तो वह बहू के आने के बाद अपने घर में घुसने के पहले खांस-खंखार लेता था, लेकिन उस दिन याद नहीं रहा। शायद इसलिए कि खांसने की आदत उसने नयी-नयी डाली थी या इसलिए कि सर पर लकड़ियों का बोझ असहनीय हो गया था या फिर इसलिए कि माथे का पसीना उसकी आंखों तक पहुंच आया था। लकड़ियों का गट्ठर आंगन में पटक कर वह ज्यों ही मुड़ा था कि स्नान करती अधनंगी बहू सामने पड़ गयी थी। वह अपने भीगे कपड़े संभालती घर में घुस गयी थी और दिन्देश सर झुकाये घर से बाहर निकल गया था।

उस दिन से उसे एक कमरे और उससे लगे बरामदे वाला अपना पुश्तैनी घर छोटा लगने लगा था। पहले बीबी बच्चों ओर दर्जनों बकरियों के लिए भी उस घर में काफ़ी जगह थी। आज जबकि बीबी

गुज़र गयी है, जमुनी अपनी ससुराल चली गयी है और बकरियां भी बिक चुकी हैं, उसका घर इतना छोटा कैसे पड़ गया? उसी दिन उसने अपने लिए एक नये घर की ज़रूरत महसूस की थी। उसने अपने लड़के को समझाते हुए कहा था, 'करगा वाली अपनी भीठ ज़मीन में एक घर होता तो अच्छा होता। खेती बारी का देख-रेख में आसानी होती। वहीं खाता-पीता और पड़ा रहता। बुढ़ापे में आना-जाना नहीं पड़ता। अपने खेतों के साथ-साथ दूसरे किसानों की फ़सल की रखवाली कर लेता। कुछ आमद भी हो जाती...'

बहुत समझाने बुझाने के बाद उसका लड़का तैयार हो गया था। उस साल भी यह महामारी इन्हीं चैत-बैसाख के महीनों में आयी थी। देशबंदी के चलते उसका लड़का बेकार बैठा था। शहर-बाजार बन्द पड़े थे। मज़दूरों की हालत ख़राब थी। कहीं काम नहीं मिल रहा था। बैठकी के उन्हीं दिनों मे बाप बेटे ने करगा बाले घर की नींव डाली थी और बरसात से पहले घर बन कर तैयार हो गया था। खाने भर का अनाज अगल-बगल के किसानों से अगोरिया करने की एवज़ में मिल जाता था। नमक तेल का इंतज़ाम वह लकड़ियां बेच कर चला लेता था।

अपने घर से लगे चबूतरे पर बैठा दिन्देश किवाड़ खुलने का इंतज़ार कर रहा था। पता नहीं उसकी बहू कितनी देर नहाती है? भीतर से कोई अवाज़ नहीं आ रही थी। आधा घंटा से ऊपर हो गया होगा। बैठे-बैठे दिन्देश ऊब गया। उसने बेटे को आवाज़ दी। कोई जवाब नहीं आया। कटनी करके लौटा होगा। थक कर सो गया होगा। लेकिन बहू तो जगी होगी। फिर दरवाज़ा क्यों नही खोलती? अब और इंतज़ार करना बेकार है। दिन्देश ने गट्ठर सर पर उठाया और गांव के बाहर जाकर नीम के नीचे बैठ गया। शायद कोई ग्राहक आ जाये ! उसने उम्मीद नहीं छोड़ी थी।

'लकड़ियां बिकाऊ हैं क्या बाबा?'

'तुम्हारे घर पहुंचा दूं क्या बेटा? तुम्हारा घर किधर है? तुम किसके लड़के हो? दिन्देश ने सामने खड़े युवक की आंखों में झांका।

'घर पहुंचाने की ज़रूरत नहीं है बाबा। इसे श्मशान ले जाना है। मेरी मां नहीं रही। उसकी चिता के लिए लकड़ियां कम पड़ रही हैं। मैं नगीना यादव का लड़का हूं। बनारस पढ़ता हूं। इसके कितने रुपये देने होंगे?'

'नगीना तो अपनी भैंसों के साथ पहाड़ पर रहता है। वह घर आ गया है या अब भी पहाड़ पर ही है? कहो तो गट्ठर को श्मशान तक पहुंचा दूं?'

'मां की अरथी बांधी जा चुकी है। बस गोतिया-भाइयों के जुटने में देर है। कोरोना के चलते कोई चलने को तैयार नहीं। सब बहाना बना रहे हैं। तुम कब तक इंतज़ार करोगे? गट्ठर यहीं छोड़ दो। इनकी क़ीमत बतलाओ।' जेब में हाथ डालते हुए युवक ने पूछा।

'ये पहाड़ से उतारी हुई लकड़ियां है बेटा, कोई चंदन नहीं। क्या मैं गांव की बहू को जलाने के लिए लकड़ियां भी नहीं दे सकता?' अपनी आंखें पोंछता दिन्देश करगा की ओर चल पड़ा। युवक उसे जाते हुए देखता रहा। वह इस बूढ़े आदमी का नाम भी नहीं पूछ सका। इस महामारी में जब लोग गोइठों और लकड़ियों की मनमानी क़ीमत वसूल रहे हैं, यह आदमी अपना गट्ठर मुफ़्त छोड़ गया। यह आदमी है या कोई देवदूत।

'बाबा, ए बाबा!' सड़क पर आते ही दिन्देश ने जानी-पहचानी आवाज़ सुनी। यह उसकी बेटी थी। यह उसे बचपन से ही बाबा कह कर पुकारती है।

'अरे जमुनी! कहां से आ रही हो बेटी?'

'करगा वाले घर से आ रही हूं। वहां चांचर पर ताला बंद था। अभी भाई-भौजाई से मिलने गांव जा रही हूं। सबेरे तुम्हारे पास आऊंगी। कल तुम्हारा खाना मैं ही बनाऊंगी। तुम कितना कमज़ोर लग रहे हो बाबा? ठीक से खाते-जीते नहीं।'

'मैं बिल्कुल ठीक हूं बेटी। जाओ, कब से धूप में खड़ी हो।'

'मैं तुम्हारी राह देखूंगा। आओगी न?'

'हां बाबा। इस झोले में मूंगफली है। तुम्हारे लिए भी लेती आऊंगी।' जमुनी को अपने भाई के घर जाते देख कर दिन्देश चिंता में डूब गया। कहीं बहू दरवाज़ा नहीं खोले तब?

अपने घर का चांचर खोलते ही दिन्देश ने बकरियों को मिमियाते सुना। देर तक दिन्देश उनकी पीठ सहलाता रहा। उसे थकान महसूस हुई। वह उठा और जाकर तख़्त पर लेट गया। ऊपर मूंज का छप्पर देखकर उसे चन्दर साह की बात याद आयी। पैसे होते तो उसके खपड़े भाव से मिल जाते। अरहर की फ़सल अच्छी हुई होती मूंज का छप्पर इसी साल खपरैल का हो जाता। अरहर की फ़सल में उखड़ा रोग लग गया। मुश्किल से दो मन हुआ होगा। अब भी अरहर के डंठलों के चार-पांच बोझे घर में पड़े हैं। बेटे को उन्हें ढोकर ले जाने की फ़िक्र और फ़ुर्सत नहीं। डंठलों की पिटाई में हाथ बटाया, यही कम नहीं। यहीं सामने वाली चट्टान पर बाप-बेटे ने तीन दिनों तक पिटाई की थी। अरहर के दाने भी पुष्ट नहीं निकले थे। इस साल चने की पारी है। देखें, भाग्य साथ देता है या नहीं। भगवान करें यह महामारी जल्द ख़त्म हो जाये और बेटा शहर में कमाने लगे। फिर छप्पर खपरैल हो जायेगा और बांस के चांचर की जगह लकड़ी के किवाड़ लग जायेगें।

तख़्त पर लेटा दिन्देश सुखद भविष्य के सपने देखता रहा। कब नींद आ गयी, वह नहीं जान पाया। आंखें खुलीं तो सूरज डूबने जा रहा था। उसका माथा गर्म था और पूरा शरीर दर्द से ऐंठ रहा था। वह दर्द से कराहता रहा और करवटें बदलता रहा। न उसने ढिबरी जलायी और न खाना बनाने के लिए चूल्हा जोड़ा। पायताने बंधी बकरियां भी शांत पड़ी रहीं।

'उठोगे नहीं क्या बाबा? मै गांव से तुम्हारे पास आ गयी और तुम अब भी सोये हो ।' चांचर खोलते हुए जमुनी ने घर में प्रवेश किया।

'तबीयत ठीक नहीं है बेटी। उठने की हिम्मत नही हो रही है।' दिन्देश ने अपना मुंह दूसरी ओर फेर लिया। जमुनी ने उसका माथा छूकर देखा। वह तवे की तरह तप रहा था।

'माथे में भी दर्द है क्या बाबा?' पिता का माथा दबाते हुए जमुनी ने पूछा।

'माथे और देह मे दर्द तो है ही, सर्दी और खांसी भी है।'

'मैं तुम्हारे लिए काढ़ा बनाती हूं ।' जमुनी चूल्हे के पास पड़े डिब्बे टहोलने लगी। नमक, हल्दी और लाल मिर्च के कुछ टुकड़ों के सिवा वहां कुछ भी नहीं था। एक शीशी में थोड़ा सरसों का तेल था। वह घर के पिछवाड़े से सहजन की पत्तियां तोड़ लायी। उन्हें उबाल कर उसमें नमक और मिर्च मिलाया। एक-दो बूंद सरसों तेल डाल कर उसने काढ़े की कटोरी अपने पिता को थमा दी। पहली घूंट

पीते ही काढ़ा सरक गया। वे खांसने लगे। हाथ की कटोरी नीचे गिर गयी।

'तुम कल कहां-कहां गये थे बाबा?'

'पहाड़ से लकड़ियां उतार कर बेचने के लिए गांव गया था। लकड़ियां नहीं बिकीं।'

'नाक-मुंह पर गमछा लपेटा था या नहीं?'

'गमछा तो मेरे सर पर था। उसका बिठो नहीं बनाता तो गट्ठर कैसे ढोता?'

'मैं दवा लेने गांव जा रही हूं। शायद स्वास्थ्य केंद्र खुला हो।'

'स्वास्थ्य केंद्र के बरामदे में कोराना भाई की तस्वीर टंगी है। उनके सर पर भी देवी माई की तरह मुकुट है। रात को वे मेरे सिरहाने बैठी थीं।'

'मै भाई को लेकर आती हूं।'

'वह कटनी करने गया होगा। आकर क्या कर लेगा? तुम कहीं मत जाओ। बस मेरे पास बैठी रहो। मुझे सांस लेने में दिक्क़त हो रही है। मेरी छाती सहलाओ... तुम्हारी भाभी मेरा गला घोंट रही है...वह तो घर से बाहर नहीं निकलती...यहां कैसे आ गयी? पिता देर तक बड़बड़ाते रहे। उन्हे अकेले छोड़ कर गांव जाना जमुनी को मुनासिब नहीं लगा। वह उनकी छाती सहलाती रही। वे लंबी-लंबी सांसें ले रहे थे। अचानक उनको हिचकी आयी और चेहरा बायीं ओर लुढ़क गया। चेहरे को सीधा करके उसने पिता की आंखों में झांका। उनकी सूनी-निर्जीव आंखें देख कर वह डर गयी। हथेलियां फेर कर उसने पिता की आंखें बंद कर दी। उनकी छाती पर हाथ रखकर जमुनी ने महसूस किया, पिता की धड़कनें बंद हो गयी थीं। वह यहीं बैठी रहे या भाई को ख़बर देने गांव जाये, तय कर पाना मुश्किल था। सुना है कि लाश को अकेले नहीं छोड़ते। जाना तो पड़ेगा ही, वरना भाई और बिरादरी वालों को ख़बर कौन देगा? जमुनी की नज़र पिता के तख़्त के पायताने बंधी बकरियों पर पड़ी। दोनों चूल्हे के पास पड़ी सहजन की पत्तियों को छूने की असफल कोशिश कर रही थीं। सहजन की पत्तियों को उनके सामने डाल कर जमुनी कमरे से बाहर निकल गयी। चांचर बंद करते हुए उसने मन हो मन बकरियों को संबोधित किया, 'अपने पिता को तुम्हारे हवाले छोड़ कर जा रही हूं। घबराना मत, मैं तुरत वापस लौट रही हूं।'

गिरती-पड़ती-दौड़ती-हांफती जमुनी अपने घर पहुंची। अपने ससुर की मौत को ख़बर सुन कर उसकी भौजाई जमुनी के गले से लिपट कर विलाप करने लगी, 'बाबू जी हो बाबू जी कवना खोंतवा में लुकइल हो बाबू जी।' अपनी गर्दन छुड़ाकर जमुनी अपने भाई को ख़बर देने कोठिलिया सिवान की ओर दौड़ पड़ी। वह बदहवास दौड़ रही थी। औरतें अपने-अपने दरवाज़ों पर निकल आयी थीं और आपस में इशारे कर रही थीं।

'तुम चलो दीदी मैं कफन का इंतज़ाम करके घंटे-दो घंटे के भीतर आ रहा हूं।' हाथ में हंसिया लिये उसका भाई खेत में खड़ा था।

'क्या बात है जमुनी? परेशान लग रही हो। तुम्हारे चेहरे पर हवाइयां क्यों उड़ रही हैं?' भीखर हरिजन ने उसे गली में रोक कर पूछा।

'बबा नहीं रहे दादा।'

'यह तो बहुत बुरा हुआ। अपने गोतिया-भाइयों को ख़बर कर दो। इस महामारी में अपने घर-

परिवार और कुछ नज़दीक़ी लोगों को छोड़कर कोई दाहकर्म में शामिल होना नहीं चाहता। कोरोना की इस दूसरी लहर ने सबको दहशत में डाल दिया है। यही हाल रहा तो लाश कुत्ते-बिल्लियों की तरह घरों में सड़ती रहेगी। अपने लोग भी झांकने नहीं जायेंगे।'

'कुमार चाचा, कुमार चाचा।' जमुनी अपने पड़ोसी के दरवाज़े पर खड़ी चिल्ला रही थी।

'कह दो कि मैं घर में नहीं हूं।' कुमार चाचा अपनी मां से कह रहे थे, 'दिन्देश भाई मर गये है, मैंने बहू को स्यापा करते सुना है।'

इसके पहले कि उनकी मां कुछ कहने आती जमुनी आगे बढ़ गयी थी। अधिकांश लोग कटनी करने गये थे। जो थे वे बहाना बना देते थे। सिर्फ़ बहादुर बाबा ने जमुनी को आश्वासन देते हुए कहा था, 'अपने भाई को आने दो। हम लोग उसके साथ आ रहे हैं।'

जमुनी साह जी की दुकान से अगरबत्ती लेती आयी थी। पिता के सिरहाने अगरबत्तियां जलाकर उसने पिता को उठाना चाहा। पिता पहले से भारी हो गये थे। उन्हें तख़्त से उतार कर ज़मीन पर दक्षिण मुंह लेटा पाना अकेली जमुनी के बूते की बात नहीं थी। वह कभी घर में आती कभी बाहर निकल कर गांव की ओर ताकती। कोई नज़र नहीं आता तो फिर पिता के पास चली जाती।

सूरज माथे पर आ गया। न भाई कफ़न लेकर आया और न बिरादरी वाले अरथी लेकर आये। हो सकता है कि भाई के पास पैसे नहीं हों या हो सकता है कि कोरोना के चलते दुकाने बंद हों। लेकिन सरकार ने ज़रूरी चीज़ों की दुकानों को छूट दे रखी है। ज़रूर भाई को गोतिया भाइयों को जुटाने में देर हो रही होगी। भीखर चाचा की बात सही साबित हो रही है। कोई आये या नहीं आये उसका भाई ज़रूर आयेगा।

दोपहर ढलने लगी। जमुनी की निगाहे गांव से आने वाले रास्ते पर टिकी थी। उसकी आंखे थक गयीं। कोई नहीं दिखा। काश कोई लकड़हारा पहाड़ से उतर आता। बाबा के लकड़हारे दोस्तों को वह अच्छी तरह पहचानती है। तभी उसने पहाड़ से एक लड़के को नीचे उतरते देखा। उसे आवाज़ दी और पास आने का इशारा किया। लड़के ने दूसरी राह पकड़ ली।

सूरज डूबने वाला था। पक्षी अपने घोंसले की ओर जाने लगे थे। जमुनी निराश हो चुकी थी। क्या पिता का दाहकर्म उसे अकेले ही करना पड़ेगा? बाबा की लाश छोड़कर वह अपने पति को बुलाने ससुराल भी नहीं जा सकती थी।

बाबा को उसके मैले गमछे से ढंककर जमुनी ने पूरे घर का मुआइना किया। चूल्हे के पास कुछ लकड़ियां पड़ी थीं। मुश्किल से आधा मन होंगी। पास ही दीवाल से लगे अरहर के चार पांच गट्ठर खड़े थे। इनकी आग देर तक नहीं ठहरती, फिर भी काम आयेंगे। घर के पिछवाड़े सहजन के पौधे को मवेशियों से बचाने के लिए बाबा ने उसे लकड़ियों से घेर दिया था। जमुनी लकड़ियों का बाड़ा उजाड़ लायी। लकड़ियां फिर भी कम थीं। वह करगा का चक्कर काटने लगी। इधर-उधर बिखरी लकड़ियों को इकट्ठा किया। अंकवारी भर थीं। उन्हें लेकर घर में रख आयी। किसी ने करवन की झाड़ियों को काट कर करगा में ही छोड़ दिया था। दो-तीन बार आना-जाना पड़ा लेकिन जमुनी झाड़ियों की घसीट लायी। करवन का कोई कांटा उसकी हथेली में धंस गया था। फिर भी उसने हार नहीं मानी। चांचर में अटकी कटीली झाड़ियों को खींच कर वह घर के अंदर लायी। लकड़ियों, अरहर के गट्ठरों और कटीली

झाड़ियों को जुटाकर उसने बकरियों को खोला और उन्हें घर के बाहर खदेड़ दिया।

जमुनी कभी डूबते सूरज को देख रही थी तो कभी गांव की ओर। अब कोई नहीं आयेगा। लगता है बाबा को उनके घर में ही जलाना होगा। कितनी मिहनत और लगन से बाबा ने यह घर तैयार किया था। भाई ने भी कम मिहनत नहीं की थी। दीवारों के लिए मिट्टी तैयार करने के लिए बांध से पानी ढोकर लाने का ज़िम्मा उसी के कंधों पर था। लेकिन अब इस घर के बारे में क्या सोचना? बाबा ही नहीं रहे तो इस घर के प्रति कैसा मोह? भाई गांव छोड़ कर करगा में रहने थोड़े आयेगा।

जमुनी ने आख़िरी बार गांव की ओर देखा और घर के भीतर आकर बाबा की चिता तैयार करने लगी। अरहर के गट्ठरों को लाकर उसने तख़्त को नीचे रख दिया। लकड़ियों को पिता के ऊपर सजा कर उसने कंटीली झाड़ियों को तख़्त के चारों ओर खड़ा कर दिया। फिर वह छप्पर से मुट्ठी भर मूंज खींच लायी। मूंज को माचिस से सुलगा कर उसने चिता की परिक्रमा की। कांपते हाथों से उसने पिता को मुखाग्नि दी और घर से बाहर निकल कर सामने फैली चट्टान पर बैठ गयी। बकरियां उसके पास आ गयीं।

आग तुरत छप्पर तक पहुंच गयी। लपटें ऊपर उठने लगीं। जमुनी लकड़ियों के चटकने की आवाज़ सुनती रही। अचानक छप्पर टूट कर घर में गिरा। डर कर बकरियां उसकी गोद में समा गयीं।

मो. 8757075977

राम के नाम पर

टेकचंद

जवानी में ही बुढ़ा रही जानकी, जवानी में ही बुढ़ा रहे अपने घर वाले पुरुषोत्तम को डायलिसिस करवा कर घर ला रही है। बैटरी रिक्शा वाला बहुत मुश्किल से सत्तर रुपये में तैयार हुआ। ऑटो टैक्सी वाले तो दो ढाई सौ से कम में मान ही नहीं रहे थे।

जानकी के हाथ में टैस्ट रिपोर्ट्स की फ़ाइल वाली बड़ी पन्नी थी, जो किसी शोरूम का विज्ञापन लग रही थी।

'ए भैया! आराम से चलाओ ना। गले में पाइप लगा है, दरद होता है...'

पुरुषोत्तम को थामे-संभाले जानकी रिक्शा वाले से चिरौरी कर रही थी। रिक्शावाला ढिठाई के साथ रिक्शा दौड़ा रहा था। जैसे ट्रैफ़िक को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा था। तेज़ शोर, तेज़ हॉर्न और बग़ल से गाड़ी यों निकल रही थी जैसे देह को छीलती चली जायेगी। डरते बचते हुए वे जे.जे. कॉलोनी में अपने किराये के मकान में पहुंचे। थकान से दोनों चूर हो चुके थे। पुरुषोत्तम बीमारी के दर्द और डायलिसिस की तकलीफ़ से टूटा हुआ था तो जानकी आगत की फ़िक्र, पैसे की चिंता से। अस्पतालों में अब तक इस रूम से उस रूम तक, इस फ़्लोर से उस फ़्लोर तक वह सैकड़ों मील चल चुकी थी, हज़ारों फ़ीट चढ़ चुकी थी, जैसे कि पूरी पृथ्वी नाप ली हो और हिमालय चढ़ ली हो। दोनों हांफते-कांपते से घर में घुसे। थोड़ा सुस्ता कर, चाय पी कर पुरुषोत्तम ने ज़रा सी झपकी ली तो जानकी अपने बेटे-बेटी के साथ लिफ़ाफ़े बनवाने और घर संवारने में जुट गयी।

अगले सप्ताह फिर से डायलिसिस पर जाना है। इसमें ख़ूब पैसा और ताक़त चाहिए जो इन दोनों की देह और जेब से निचुड़ते जा रहे थे। कालोनी भर की कमोबेश यही हालत थी।

लगभग चवालीस-पैंतालीस साल का पुरुषोत्तम जींस रंगने, वाश करने की फ़ैक्ट्री में काम करता था। लॉकडाउन में वह फ़ैक्ट्री बंद पड़ गयी तो तनख़्वाह भी बंद हो गयी।

और हो भी क्यों ना? प्रधानमंत्री! दुनिया के सबसे विशाल लोकतंत्र का प्रचंड बहुमत प्राप्त प्रधानमंत्री जब उद्योगपतियों से जनता के हित में 'अपील' करता हो और जनता के लिए तत्काल प्रभाव से लागू आदेश पारित करता हो तो..?

तो फ़ैक्ट्री मालिकों ने झटके में लाखों मज़दूरों को रातों-रात घर बैठा दिया। किसी की महीने की तो किसी की महीनों की तनख़्वाह मारकर। ज़बरा मारे और रोने भी ना दे। उद्योगपति पूंजीपति अपने अपने क़िलों-महलों में सुरक्षित हो गये और परिवार पालने को छटपटाती जनता की चमड़ी उधेड़ने हड्डियां तोड़ने की पूरी खुली छूट पुलिस प्रशासन को दे दी गयी। बहुत ही जल्दी मकान मालिक, दुकानदार, प्रॉपर्टी डीलर, फिनांसर और अदमाश-बदमाश छुटभैये नेता टाइप लफ़ंटूश भी जनता को पीटकर सरकार भक्त होने लगे।

पुरुषोत्तम भी जब सपरिवार कई दिनों भूखा प्यासा घर में क़ैद हो गया तो भोजन-पानी की तलाश में छुपते छुपाते फ़ैक्ट्री गया। फ़ैक्ट्री पर ताला पड़ा था। ताला जैसे उनके प्राणों पर जड़ा था। मगर वापसी में दो जगह मार खानी पड़ी।

एक जगह पुलिस वालों ने मारा तो दूसरी जगह बग़ल के गांव वाले असरदार लोगों ने नाका लगा रखा था। वहां भी पिटाई हुई। पीटने वाले उससे भी कम उम्र के थे। पिटाइयों का वर्णन हृदय विदारक है। परंतु जहां अंतिम सांस लेते अधमरे को भी घायल गिना जाये वहां तड़ातड़ पड़ती लाठियों और कमर, पेट में लगते खुद्दों की गुम चोट को कौन देखे ?

परंतु खाली पड़े लोंडों लफंडरों को काम मिल गया। जीने को छटपटाते, भूखे-मरते बालकों के लिए राशन लाने वालों को उधेड़ना, मायने उसी झील हिरण पानी पीये, उसी झील शेर-भेड़िये और उसी झील में मगरमच्छ। जिसका दांव लग जाये हिरण पर।

तो यों पुरुषोत्तम कई बार सरकारी आदेश और उद्योगपतियों के लिए की गयी प्रधानमंत्री की मार्मिक अपील का शिकार हुआ। मास्क व दूरी का कमरतोड़ जेबफाड़ आदेश था तो उद्योगपतियों से मज़दूरों की सहायता करने की मरियल सी अपील।

गली में ढोल मंजीरों का शोर था। साथ-साथ राम नाम के, 'जय श्री राम' के जयकारे और भजन भी चल रहे थे। भजन क्या कुछ स्लोगन टाइप वाक्य ही थे, जिन्हें ढोल मंजीरों की थाप-झांझ पर गीत की तरह गाया जा रहा था। समस्त गायक युवा थे लेकिन आवाज़ में बुढ़ापा।

'राम भजो राम भजो राम भजो राम.. राम राम राम राम रामा रामा राम.. राम भजो'

यही शब्द उच्चतर मध्यम स्वर में कॉलोनी में गूंज रहे थे। गांव और शहर के संक्रमण बिंदु पर बसी यह जेजे कॉलोनी है, यहां ज़्यादातर रोज़मर्रा के काम धंधा करने वाले लोग रहते हैं। रेहड़ी खोमचा से लेकर फ़ैक्ट्री गोदाम दुकानों के गार्ड, वर्कर सेल्समैन, घरों में काम करने वाली यहां रहती हैं। बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते-छूटते अख़बार डालने लगते, कारें साफ़ कर, होटल रेस्टोरेंट में वेटर, टेंट हाउस में हैल्पर और अन्य छोटे-मोटे काम करने लगते। मायने सारे शहर को और धनाढ्य लोगों के घरों दफ़्तरों से लेकर काम धंधे तक एच. आर. यानी ह्यूमन रिसोर्स ये लोग ही हैं।

बाइस-चौबीस, छब्बीस-अट्ठाइस गज़ के इन दड़बेनुमा मकानों में यह लोग उपरांतली रहते हैं। माचिस की डिबियां सी खड़ी हैं। कहीं पर पलस्तर नहीं कहीं रंग नहीं, ईंटें तक गिनी जा सकती हैं दीवारों की। एक एक डिबियानुमा मकान में कई कई परिवार रहते हैं।

कहीं बहुत दूर बन रहे राम मंदिर का चंदा यहां से वसूला जा रहा है। जी हां, देने की किसी में गुंजाइश तो नहीं, बाक़ी बस वसूल किया जा रहा है। जब तक एक मकान की कई मंज़िलों और कई मकानों के खाचे या स्क्वायर से जवान लड़के चार-पाच की टोली में चंदा वसूल कर लाते, तब तक चौक और गली में बूढ़े बुज़ुर्ग ढोल मंजीरों की आवाज़ पर रामधुन गा रहे होते। उनके हाथ में माइक और मुनादी करने वाला हैंडी लाउडस्पीकर भी था। उसकी कर्कश आवाज़ लोगों के कान के पर्दे हिला रही थी। तेज़ शोर था। कई बूढ़े बीमार दड़बों में कुलबुला रहे थे। कोई ज़ख़्मी पीठ से करवट लेकर हाथ जोड़ देता। कोई गाली बुदबुदा देता।

महीनों के लॉकडाउन से उनको ओपीडी भी नहीं मिल पा रही थी। बहुत लोग कोरोना से मरे और बहुत सारे सामान्य बीमारियों के बढ़ जाने से। अस्पताल इन दिनों दो ही 'मोड' में थे, या तो बंद थे या कोरोना सेंटर बना दिये गये थे।

रामधुन को लेकर हर घर में अलग-अलग बातें थीं :

'कैसा शोर है यह?' बूढ़े का सिर दर्द से फटा जा रहा था।

'तुम्हें शोर लगता है बुढ़ऊ ? पूरी जवानी तो पाप में गुज़ार दी, अब राम नाम भी शोर लगता है...?'

कहीं ऐसी बात थी :

'अम्मा अब तो नेटवर्क मिला है, मुझे होमवर्क भी 'सबमिट' करना है और अभी ये भजन वाले आ गये। बंद करवाओ ना!'

'कैसे बंद करवा दूं बेटा ? कॉलोनी का ठेकेदार भी साथ है, पास की बस्ती के बदमाश भी हैं और उन बदमाशों का उस्ताद वह प्रॉपर्टी डीलर भी।'

आवाज़ कहीं बीमारों को चुभ रही थी, कहीं पढ़ने वालों को परेशान कर रही थी। बाक़ी लोग रोज़मर्रा की तरह शोर को स्वीकार कर रहे थे। ज़रूरी रूप से चंदा सभी से वसूला जा रहा था। चंदा वसूलने वाला जत्था अब 'उनके' दरवाज़े पर था जिनके लिए यह कहानी लिखने का कष्ट उठाया। कष्ट इसलिए कि अब लेखकों का लिखा भी जनता को कुछ समझा, बता नहीं पा रहा है। जनता वही समझती है जो उनकी जाति-धर्म को बता दिये गये ख़तरे से बचा सकने का दावा करे। हां, ख़तरे का अहसास करवाने वाली भाषा का मदारी, जादूगर की भाषा होना बुनियादी शर्त है। मदारी की भाषा में लोग अपना दुख दर्द, भूख, बीमारी भूलकर देश, धर्म, जात की चिंता करने लगते हैं। अपनी पढ़ाई रोज़गार सब भूल जाते हैं।

'राम' और 'देश' मदारी की भाषा का मेरुदंड हैं।

'चार सौ बयानवें साल में राम मंदिर बन रहा है, यह तो देश के लिए गर्व की बात है... धर्म ही तो जीवन है...'

'हां भाई तभी तो दे रहे हैं..'

'तो कौन सा एहसान कर रहे हैं...? दे रहे हैं अपनी अगत सुधारने को... अपना परलोक संवारने को... इस पर्ची को संभाल कर रखना फ्रेम में जड़वा लेना... जब आने वाली पीढ़ियां पूछेंगी कि जब प्रभु श्री राम का मंदिर बन रहा था तो तुम्हारे पुरखों ने क्या किया? तो यह दान उनका सीना गर्व से चौड़ा कर देगा... आप एक तरह से गंगा जी में जौ बो रहे हैं..!'

इस तरह की बातें करते हुए अब यह जत्था 'उनके' घर के सामने मांगने गाने लगा था। दुर्भिक्ष और ग़रीबी का मंज़र। गली से नीचे फ़र्श, अंधेरा सीलन और बदबू। लगभग बारह बाई बारह का कमरा। उसी में सारा घर। दीवारों में जगह-जगह कीलों, खूंटियों पर टंके झोले, पन्नियां। दो टूटी सी चारपाइयां। एक झटोल सी खटिया पर कंकाल सा खांसता हांफता, जवानी में ही बुढ़ा गया पुरुषोत्तम। सेवा करती जवानी में ही बूढ़ी हो गयी जानकी।

बीस एक साल का कुपोषित सा लड़का काग़ज़ के लिफ़ाफ़े बना रहा था। पंद्रह एक साल की मरघिल्ली सी लड़की लिफ़ाफ़ों को गिन-गिन कर बंडल बना रही थी।

कोने में ईंटें टिकाकर, लकड़ी का फट्टा धरकर स्लैब बना रखी थी। उस पर सिंगल बर्नर का सस्ता गैस चूल्हा जमा रखा था। चूल्हे से जाता रबर पाइप तीन किलो के सिलेंडर से कनैक्ट था। ऊपर दीवार में सरिया गाड़कर फट्टा रखकर बर्तन धरने की स्लैब।

गली ऊंची थी। वहां से इस कमरे में उतरना पड़ता था। उतरते ही उल्टे हाथ को जीने के नीचे हौदी बनी हुई थी। वहीं नहाना धोना, बर्तन मांजना। इससे फ़र्श पर खारी-खारी सीलन थी। गीले पैर घर में ना जायें इसके लिए टाट की बोरियां बिछा दी थीं। गीली होकर वे भी गंधा रही थीं। जीना बाहर से ही ऊपर की ओर जा रहा था। ऊपर मकान मालिक। नीचे ये किराएदार। हालांकि पूरी कॉलोनी के लिए लेट्रीन बस्ती के बाहर सामूहिक रूप से बनी थीं, मगर बहती खुली भरी नालियां घर को बदबू से सड़ा रही थीं।

'हां जी, कहिए!'

अंधेरे में कई आंखें एक साथ चमकीं। चंदा मांगने वाला ऊपर से नीचे तक धौलपोश हो रखा था। गले में भगवा गमछा, जिस पर राम, ओम और राष्ट्रीय नेताओं की फ़ोटो छपी थी। ऐसे ही अन्य भी थे कहीं-कहीं भव्य राम मंदिर भी गमछे पर छपा हुआ था। इन लोगों के तन, बदन व कपड़ों से चंदन, गुलाब डियो की सुगंध निकल रही थी। मगर कई तरह की सुगंध भी इस बस्ती की दुर्गंध को कम नहीं कर पा रही थी। इन लोगों के ललाये चेहरे, मोटे पेट और एकदम संतुष्ट मुस्कान भी बस्ती के कंगलेपन को कवर नहीं कर पा रहे थे। बाहर ऊंची गली पर सभी संपन्न थे। नीचे घर में सब विपन्न। संपन्न विपन्नों से मांग रहे थे। साधिकार पूरे रौब से। जैसे मादा भेड़िया की गुर्राहट हो स्वर में :

'जय श्री राम' धौलपोश ने कहा।

'जी, राम राम, कहिए।'

'कहना क्या माता जी, मुझे तो जानते ही होंगे ,चौहान प्रॉपर्टीज़...'

' ज् जी चौहान जी!'

हालांकि यह गृहिणी चालीस में ही बुढ़ा गयी थी और प्रॉपर्टी डीलर चौहान छियालिस में भी बाल रंगकर, ख़ूब खाकर लला रहा था।

चालीस में ही बुढ़ा रही इस गृहिणी यानी जानकी का बीमार पति भी चौहान से दो एक साल छोटा ही होगा। मगर चौहान बोला-

'अंकल कैसे हैं...?

'अब कैसे होंगे...?

वह रुआंसी हो गयी, आंखें पनिया गयीं, जैसे रुलाई रोकना चाहती हो। माथे की नसें उभर आयीं। सांवली रंगत गाढ़ी होने लगी। भरकर बोली :

'लोकडोन में नोकरी छूट गयी बाप बेटे की... ऊपर से ये बीमार हो गये... अब पता लगा है कि किडनी खराब है... पूरे लोकडोन में पड़ोसियों,रिस्तेदारों से उधार लेकर गुजारा हुआ...!'

सभी असमंजस में थे। चौहान की मुखमुद्रा शिकार छूट जाने, चूक जाने जैसी हो गयी।

'देखो बेटा! राम जी सब भला करेंगे...'

ढोल मजीरा वालों में से आकर एक बुज़ुर्ग ने मोर्चा संभाला।

'नहीं बाबा, हमारी बारी में राम जी पता नहीं कहां चले जाते हैं... राम जी भी मरते को मारते हैं और भरते को और भरते हैं।'

उसके दुख में क्षोभ भरा था, रोष घुला था।

'कोई ना जी, अब राम जी की सेवा करो...! दाल रोटी खाओ, प्रभु के गुण गाओ...!'

'कहां से खा लें दाल रोटी..? कई-कई दिन भूखे रहते हैं हम... अब पेट में कुछ होगा तो गुण गायेंगे ना पिरभू के..? अब इनको देखो! सब अस्पताल बंद हैं, जो खुले हैं वहां भीड़ बहोत है... दवा जांच सब बाहर से करवा रहे हैं...।'

'अरे आंटी!' एक उत्साही भक्त ने जैसे सब दिक्कतों को एक झटके में परे धकेल दिया, बोला,

'अस्पताल तो सरकारी है ना? डॉक्टर तो आ रहा है ना...?'

बुढ़िया कहें कि अधेड़, ग़ुस्से में आ गयी। अब यह ग़ुस्सा ऐसा ही था कि मार ही तो देंगे इससे ज़्यादा और क्या? मार दें जान छूटे...

'हां भैया, डाकटर और बिलडींग ही तो सिरकारी है ना..? बाकी तो दवाई टैस्ट सब बाहर से करवाने को दे दिया है... दवाओं, टैस्टों का कमीसन मिल जाता है ना, फिर कौन सिरकार, कौन सिरकारी...?'

'ठीक है...! ठीक है...! कोई बात नहीं, सब ठीक हो जायेगा...' डीलर चौहान ने जैसे बात काटनी बदलनी चाही।

जहां पचास-पचपन के स्टार युवा बनकर रोमांस कर रहे थे और ऊपर से सत्तर साला प्रधानमंत्री इन युवा सितारों को भी मात दे रहा था, वहां चवालीस एक का यह बंदा बूढ़ा होकर दम तोड़ छोड़ रहा था। जैसे इसकी वोट का दम सीधा प्रधानमंत्री में स्थानांतरित होकर प्रधानमंत्री को दमदार बना रहा था, बोला :

'क्या ठीक हो जायेगा? हमने भी इसी सरकार को वोट दिया था के अकाउंट में पैसा आयेगा... इस लड़के को नोकरी मिलेगी... क्या हुआ...? आप तो बैठे हैं ना लोहा-पत्थल का मजबूत किला में... ओर हम...? ...अब मंदिर और मूरत...'

उसका दम उखड़ गया। पत्नी घबराकर तत्पर हुई। लिफ़ाफ़ा बनाना छोड़ लड़की ने पानी दिया। सांसें थोड़ी संयत हुई।

अब लड़का बोला :

'य् ये लिफाफा बनाने का काम मिल गया... नहीं तो मर जाते हम...'

वह लिफ़ाफ़ों के बंडल एक बड़े झोले में पैक कर रहा था। हर लिफ़ाफ़े पर प्रधानमंत्री के अलग-अलग भाव मुद्रा में फ़ोटो छपे थे। उन सबकी निगाहें लिफ़ाफ़े पर। लड़के ने भांप लिया। बोला :

'जब अख़बार पर शुरू से एंड तक इन्हीं के चिकने-चिकने फ़ोटो होंगे तो ऐसे ही लिफ़ाफ़े बनेंगे... आपको पता है लोगों ने अख़बार पढ़ने बंद कर दिये हैं... हमें बस इतना फ़ायदा है कि नया का नया बंडल मिल जाता है अख़बार का... बाक़ी इनका कोई फ़ायदा नहीं... यह जो गैस सिलेंडर है, पहले चालीस पचास रुपये किलो गैस मिलती थी, अब अस्सी-नब्बे हो गयी है, ढाई तीन सौ में भरता है... चार दिन चलता है...'

इस बीच बूढ़े की हालत संभली। बोला :

'मकान मालिक ने किराया नहीं छोड़ा, किसी तरह दिया हमने... मगर अब ना मेरी नोकरी ना

लड़के की... ऊपर से ये बीमारी... हमारा ही पता है क्या सभी मुसीबतों के पास..? यह नेता भी चुनाव होते हैं तो घर से उठाकर ले जाते हैं वोट डलवाने के लिए... लिस्ट लिये घूमते थे... अब कहां आग लग गयी उस लिस्ट और लिस्ट वालों को..? पूरे लोकडौन में कोई भी नज़र नहीं आया... शरम नहीं आती इनको वोट मांगते.. किसी भी रात कुछ भी जो मन आया कह देते हैं... अरे संभलने का मौक़ा तो दो... ज़हर खिला दें क्या इन बच्चों को...?

उसकी हिचकी बंध गयी और कलेजा धौंकनी की तरह चलने लगा।

चंदा मांगने वालों का धैर्य चुकने लगा था।

बूढ़े को खांसी उठी, जैसे मुंह में कुछ आया। घर वाले समझ गये। लड़की ने अख़बार का पेज उठाया जो लिफ़ाफ़ा बनाने के लिए काटकर गुटका सा बनाकर रखा गया था। उस पर भव्य राम मंदिर के शिलान्यास का भारी-भरकम विज्ञापन था। एक तरफ़ भव्य राम मंदिर का मॉडल, दूसरी तरफ़ प्रधानमंत्री का हंसता चेहरा। अख़बार बूढ़े के मुंह से सटा दिया। जो भी अंदर था उसने उगल दिया। बुढ़िया ने अख़बार के कागज़ को दबोचा तो राम मंदिर और प्रधानमंत्री का चेहरा बुरी तरह निचुड़ गया। बूढ़े की ख़ूनभरी उल्टी, राम मंदिर और प्रधानमंत्री के फ़ोटो पर लस गयी थी।

चंदा मांगने वालों को ग़ुस्सा आया। साथ ही उनका जी उबकाई का सा हो गया।

दो तीन ने तो वहीं नाली में थूक दिया।

'हट जाओ!...'

बुढ़िया या कहें कि अधेड़, दरवाज़े की तरफ़ आयी, सब पीछे हटे, लगभग चलने को हो गये। बुढ़िया ने मुचड़ा हुआ अख़बार का पुड़ा सा बाहर की तरफ़ उछाल दिया। गेंद की तरह लौंदा सा लुढ़कता नाली में गिर गया। कुछ छींटे चंदा मांगने वालों की तरफ़ भी उछले तो वे लोग छिटककर पीछे की तरफ़ उछले।

जवानी में ही बुढ़ा चुकी जानकी, जवानी में ही बुढ़ा चुके पुरुषोत्तम की सेवा में लग गयी।

वे लोग अगले घर की तरफ़ चल पड़े और राम मंदिर का अख़बार गेंद बना नाली में बहा जा रहा था। देखते ही देखते उसने इतना गंदा पानी सोख लिया कि उसी गंदले पानी में डूब गया। भीतर बूढ़ा 'खुर्र-खुर्र' कर लंबी सांसों से जूझ रहा था।

मो. 9650407519

पुस्तक समीक्षा

घुटती आज़ादी की ख़ौफ़नाक तस्वीरें और उनका एक अलग तर्जुमा

मुकेश कुमार

नये भारत में आज़ादी एक बदनाम शब्द है। नहीं, बदनाम से भी ज़्यादा ये एक ख़ौफ़नाक़ शब्द बन चुका है। इस शब्द के इस्तेमाल की वज़ह से आपके साथ कुछ भी हो सकता है। आप देशद्रोही, पाकिस्तानी, हिंदू विरोधी कुछ भी घोषित किये जा सकते हैं। आपके ख़िलाफ़ कहीं भी मामला दर्ज किया जा सकता है, आपको गिरफ़्तार करके जेल भेजा जा सकता है। आपके ऊपर राजद्रोह और आतंकवाद निरोधी अधिनियम की धाराएं लगाकर आपको अनंतकाल तक जेल में रखा जा सकता है। तब आप अदालतों से भी कोई उम्मीद नहीं कर सकते। लड़ी होगी हमारे पूर्वजों ने आज़ादी के लिए लड़ाई, दी होगी आज़ादी के नाम पर शहादत, मगर आज इसकी बात करना भी गुनाह है। यह नाक़ाबिले बर्दाश्त है कि कोई आज़ादी का नारा लगाये। हमारा मीडिया उसका चरित्र हनन करने में एक क्षण की भी देर नहीं करेगा। वह देशवासियों को इतना भड़का देगा कि वे आपकी मॉब लिंचिंग कर सकते हैं। लेकिन इन तमाम ख़तरों के बावजूद बात तो करनी ही होगी और खुलकर करनी होगी। अगर आज़ादी बचानी है तो सारे जोख़िम उठाने होंगें।

जानी-मानी लेखिका अरुंधति रॉय लंबे समय से यही कर रही हैं। वे बार-बार सत्ता को चुनौती देते हुए आज़ादी की बात करती हैं। अपनी आज़ादी की नहीं, बल्कि उन सभी लोगों, समुदायों की आज़ादी की जिन्हें किसी न किसी रूप में उससे वंचित किया जा रहा है। वे आदिवासी, दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक भी हैं और भारतीय राष्ट्र-राज्य के दमन से लड़ते कश्मीरी भी। वे इस क्रम में हर तरह के वर्चस्व और प्रभुत्व को चुनौती देती हैं। उनके निशाने पर वह हर तरह की सत्ता है, जो अत्याचार और शोषण पर टिकी है। कथा-साहित्य से लेकर समसामयिक लेखों तक आज़ादी की यही मांग और जद्दोजहद उनके लेखन में फैली हुई है।

उनकी क़िताब *आज़ादी* , दरअसल, 2018 से लेकर 2020 तक लिखे गये लेखों या दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। अरुंधति अंग्रेज़ी की लेखिका हैं इसलिए ज़ाहिर है कि उनकी किताब का हिंदी में अनुवाद किया गया है। लेकिन रेयाज़ुल हक़ का अनुवाद बहुत ही सहज और तरल है, लिहाज़ा भाषा कहीं अवरोध बनकर खड़ी नहीं होती।

अरुंधति महसूस करती हैं कि ये दो साल, दो सौ साल की तरह हैं और किताब को पढ़ने के बाद सचमुच में ऐसा लगता है कि हम एक पूरे वक़्त को पढ़ रहे हैं। कथेतर साहित्य होने के बावजूद संकलित लेख क़िस्से-कहानियों की तरह दिलचस्प और आंख खोलने वाले हैं। इसकी वज़ह यह है कि वे संवेदनाओं से भरे हुए हैं। उनमें तरह-तरह के वास्तविक किरदार हैं, ढेर सारे मगर बहुत ज़रूरी ब्यौरे विशिष्ट व्याख्याओं के साथ मौजूद हैं। कई बार वे अपने उपन्यासों को भी चर्चा में ले आती हैं।

दरअसल, अरुंधति की अपनी एक ख़ास लेखन शैली है, जिसमें वे तरह-तरह से संवाद करती नज़र आती हैं। कई जीवंत पात्रों और घटनाओं के ज़रिये वे सवाल करती हैं और उनके जवाब ढूंढ़ती हैं। जब वे तल्ख़ होती हैं तो तंज़ का सहारा भी लेती हैं। वे जिस विषय को लेती हैं, उसकी परतें उघाड़ती जाती हैं और इस क्रम में कुछ ऐसा सामने आता है जिसकी तरफ़ हमने ध्यान ही नहीं दिया होता। यह एक संवेदनशील मनुष्य और रचनाकार की दृष्टि का कमाल होता है, जो बिरले ही देखने को मिलता है।

मसलन, क़िताब के पहले ही लेख को ले लीजिए। यह लेख, दरअसल, 2018 में ब्रिटिश लायब्रेरी में दिया गया उनका व्याख्यान है। वे इसमें अपनी ज़ुबान का सवाल उठाती हैं और फिर भारत में भाषाओं की स्थिति पर से परदा उठाती जाती हैं। वे लिखती हैं, भारत में 780 ज़ुबानें हैं जिनमें से केवल बाईस को संविधान में स्वीकृति दी गयी है जबकि अड़तीस यह दर्जा पाने का इंतज़ार कर रही हैं। इनमें से हरेक का उपनिवेश बनाने या उपनिवेश बन जाने का अपना इतिहास है। ऐसी ज़ुबानें बहुत कम हैं जो सिर्फ़ पीड़ित या सिर्फ़ अपराधी हैं। इसी संदर्भ में, वे हिंदी-उर्दू को लेकर चलने वाली सांप्रदायिक राजनीति को भी परखती हैं।

अरुंधति मानती हैं कि भारत में कुछ भी सुलझा हुआ नहीं है और न होगा। बीस साल बाद अपना दूसरा उपन्यास *द मिनिस्ट्री ऑफ़ अटमोस्ट हैपीनेस* को पूरा करने के बाद भी वे भाषा को लेकर उलझन में थी। उन्होंने महसूस किया कि एक उपन्यास का कोई दुश्मन हो सकता है तो एक राष्ट्र, एक धर्म और एक ज़ुबान का विचार। ज़ाहिर है कि वे हर स्तर पर बहुलता और विविधता को प्रतिष्ठित करना चाहती हैं। इससे उनके अंदर एक असमंजस भी पैदा होता है जो उपन्यास का आवरण पृष्ठ टाइप करते हुए प्रकट होता है। उन्हें यह ख़याल आया कि एक भाषा की जगह वे लिखें कि मूल ज़ुबान से अरुंधति रॉय द्वारा अनूदित। ऐसा इसलिए कि यह उपन्यास कई भाषाओं में सोचा गया और यह अनुवाद ही था जिसकी बुनियाद पर उपन्यास लिखा गया।

वास्तव में वे ज़ुबान को भी अपनी आज़ादी के रूप में चिन्हित कर रही होती हैं। वे लिखती हैं:

> *द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स* लिखते हुए मैंने महसूस किया कि मेरी रगों में ख़ून अधिक आज़ादी के साथ बहता है। यह एक बेपनाह राहत की बात थी कि मैंने आख़िर में एक ज़ुबान पा ली थी, जो मेरी अपनी ज़ुबान जैसी महसूस हुई।

अरुंधति यहां आज़ादी की ज़ुबान की बात कर रही हैं। उस आज़ादी की ज़ुबान जो उनके तमाम लेखन में निर्बाध बहती देखी जा सकती है।

अरुंधति की आज़ाद ज़ुबान हर जगह आज़ादी तलाशती है। 'हमारे शिकस्ता ज़ख़्मी दिल' लेख में वे पुलवामा हमले और उसके चुनावी दोहन के प्रसंग को उठाते हुए कश्मीरियों की आज़ादी की मांग पर आ जाती हैं। हालांकि आज के हिंदुस्तान में इस तरह का सवाल करना किसी देशद्रोह से कम नहीं है, मगर वे पूछती है कि जो भारतीय ब्रिटिश हुकूमत से अपनी आज़ादी की लड़ाई के गुण गाते हैं और एक तरह से उसकी रहनुमाई करने वालों की पूजा तक करते हैं, वे अजीबोग़रीब त़रीक़े से कश्मीरियों को लेकर आंखें मूंद लेते हैं, जबकि कश्मीरी भी उसी चीज़ के लिए लड़ रहे हैं।

कश्मीर, आज़ाद-ख़याल अरुंधति के लिए सबसे ज़्यादा परेशान करने वाला मुद्दा है। एक अन्य लेख, 'ख़ामोशी' में, सबसे बुलंद आवाज़ में धारा 370 को हटाये जाने के पहले से अगले कई

महीनों तक कश्मीर को क़ैद करने का वर्णन करती हैं। वे दूरदर्शन पर देश को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री को कठघरे में खड़ा करते हुए कहती हैं :

> जब वे जज़्बाती भाषण दे रहे थे तो उन्होंने यह नहीं बताया कि कश्मीरियों को घरों में बंद रहने की ज़रूरत क्यों है और क्यों उन्हें सारी दुनिया से काट दिया गया है। उन्होंने वह नहीं बताया कि जिस फ़ैसले से उन लोगों को इतना फ़ायदा होने की बात कही जा रही है, वह उन लोगों से बिना सलाह लिये क्यों लिया गया। उन्होंने यह भी नहीं बताया कि भारतीय लोकतंत्र के महान तोहफ़े, एक ऐसे अवाम के किस काम आयेंगे जो फ़ौजी कब्ज़े में रह रहे हैं।

द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स उपन्यास लिखने के बाद अरुंधति ने अपना पहला लेख लिखा था, 'द एंड ऑफ़ इमेजिनेशन'। यह वाजपेयी सरकार द्वारा परमाणु बम का परीक्षण करने पर लिखा गया था। उन्होंने इसमें कहा, 'परमाणु होड़ में शामिल होकर हम अपनी कल्पना का उपनिवेशीकरण कर देंगे-अगर अपने दिमाग़ में परमाणु बम लगाने का विरोध करना हिंदूविरोधी है, भारतविरोधी है तो मैंने कहा, मैं मुल्क से अलग होती हूं। मैं खुद को एक आज़ाद, ख़ानाबदोश गणतंत्र घोषित करती हूं।'

हिंदू राष्ट्रवाद की बेलगाम रफ़्तार को वे अंत की इत्तला मानती हैं। यह अंत आज़ादी का है लोकतंत्र का है। यह केवल कश्मीर तक महदूद नहीं है, पूरा देश इसकी ज़द में है। कश्मीर से विशेष दर्ज़ा छीनने से लेकर सीएए, एनआरसी, मॉब लिंचिंग तक तमाम गतिविधियां इसी की सूचना दे रही हैं। इस सूचना को लोग ग्रहण नहीं कर रहे हों तो और बात है। ये तमाम फ़ैसले, दरअसल, अल्पसंख्यकों को निहत्था करने के लिए हैं, उनसे राजनीतिक अधिकार छीनकर उन्हें असहाय बनाने के लिए हैं और बीजेपी ने यह कर दिखाया है। वह मुसलमानों के वोटों की परवाह किये बिना जीतकर दो बार सत्ता पर क़ाबिज़ हो चुकी है। वे असम में एनआरसी के नाम पर किये गये अत्याचारों का बहुत ही मार्मिक वर्णन करती हैं। बताती हैं कि कैसे लाखों हिंदू-मुसलमान अपनी नागरिकता साबित करने के लिए कंगाल हो गये, बरबाद हो गये। इसके बावजूद भी बहुत से लोग अभी भी संदेह के घेरे में खड़े अनिश्चितता में जीवन गुज़ार रहे हैं।

यहीं वे हिंदू राष्ट्र में दलितों की स्थिति को भी बयान करते हुए हरियाणा के एक दलित युवा दयाचंद की कहानी सुनाती हैं। एक सवर्ण हिंदुओं की भीड़ ने जब पांच दलित युवकों को पीट-पीटकर मार डाला तो वह अपमान और गुस्से से भर उठा और उसने इस्लाम क़बूल कर लिया। सद्दाम हुसैन से प्रेरित होकर उसने अपना नाम भी सद्दाम रख लिया। इसी तरह उन्होंने और भी दलितों के धर्मांतरण के ब्यौरे दिये हैं। ये ब्यौरे यही बताते हैं कि हिंदू राष्ट्र किन हिंदू जातियों का स्वप्न है और उसमें बाक़ी जातियों की आज़ादी का क्या हश्र होगा।

वे दिल्ली दंगों की बात करते हुए कोरोना महामारी तक जाती हैं और हर जगह पाती हैं कि मौजूदा निज़ाम भेदभाव और हिंसा पर टिका है। वह 'हम' और 'वे' की अवधारणा पर काम कर रहा है। जो हिंदुत्व के साथ नहीं हैं वे देशद्रोही हैं, उन्हें पाकिस्तान चले जाना चाहिए और नहीं मानेंगे तो हम उन्हें झूठे आरोपों में जेल में डाल देंगे (जैसे भीमा कोरेगांव और दूसरे बहुत से मामलों में किया गया) या दंगों में मरवा देंगे। सत्ता का यह निर्मम रूप हमें नोटबंदी और फिर कोरोना काल में थोपे गये लॉक डाउन में भी देखने को मिलता है।

दुनिया अभी इसे उतनी गंभीरता से नहीं ले रही है। उसे लगता है कि हिंदुत्व बहुत आगे नहीं

जायेगा या जा सकता। मगर हिंदू राष्ट्रवाद के पास आरएसएस जैसा विशाल संगठन है जो दुनिया में कहीं किसी भी विचारधारा के पास नहीं है और वह कुछ भी करने की हैसियत रखता है, ख़ास तौर पर तब जब सत्ता भी उसके पास हो और सत्ता के तंत्रों के इस्तेमाल की सहूलियत भी।

कुल मिलाकर *आज़ादी* में संकलित लेखों में अरुंधति रॉय तानाशाही के दौर में आज़ादी को बचाने और उसके असली मायनों को समझने का आग्रह करती हैं।

मो. 9811818858

पुस्तक : *आज़ादी*
लेखिका : अरुंधति रॉय
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

कथेतर गद्य की चतुरंग

रामप्रकाश त्रिपाठी

- बाबरी मस्जिद, गुजरात का नरसंहार पचास वर्षों में घटित हुआ। गांधी से ज़बरदस्त असहमति का क्रियाकलाप इसमें निहित है। यह कार्य संगठित रूप से जारी है। मेरी यह सोच है कि भगत सिंह, गांधी के विरुद्ध नहीं थे। अक्सर गांधीवादी इस पंक्ति में गफ़लत करते हैं और प्रबल दक्षिणपंथ की ओर मुड़ जाते हैं, क्योंकि वे गांधी के वामपंथ से बचाने वाला एक महत्वपूर्ण हथियार मानते हैं। इसी रुझान में यह समझा जाता है कि गांधी से असहमति एक पश्चिमी कीड़ा है, जबकि असहमति का विचार भारत में भारत की ज़मीन से ही उठकर मौजूद हुआ।

-ज्ञानरंजन : 'आकाश हम छू रहे हैं, ज़मीन खो रहे हैं'- *उपस्थिति का अर्थ*

...

-कांग्रेस की तारकेश्वरी देवी का नाम उन दिनों चर्चा में था। उन्होंने नींद की गोलियां खा ली थीं।... वे एक तेज़तर्रार नेता थीं। किसी तरह समय लेकर हम लोग उनसे मिले। जब उनसे यह सवाल पूछा (युवा की उम्र क्या हो) तो तमककर बोलीं कि माओ त्से तुंग को आप क्या जवान नहीं मानते? जवान होना उम्र से नहीं विचारों से होता है। पच्चीस साल के कई लड़के और युवा नेता मुझे अपनी सोच-समझ में बूढ़े नज़र आते हैं।

-राजेश जोशी : 'पता नहीं मछलियां कैसे रोती हैं : *वह हंसी बहुत कुछ कहती थी*

...

- श्रम के घंटों को सीमित करने का जो न्यायपूर्ण, विवेकपूर्ण, नैतिक और मानवीय अधिकार, श्रमिक संगठनों एवं श्रमिक पैरोकारों द्वारा लंबे संघर्ष से अर्जित किया गया था, उस अधिकार को धीरे-धीरे हमारी आंखों के सामने चुराया जा रहा है। ये तीनों स्थितियां तत्काल प्रतिरोध और हस्तक्षेप की मांग करती हैं। अन्यथा हम श्रमिक से दास बनने की प्रक्रिया को तेज़ कर देंगे।

-कुमार अंबुज : 'श्रम के घंटे और मनुष्य का अवकाश' : *मनुष्य का अवकाश*

...

एवरेस्ट विदिशा ज़िले की सिरोंज तहसील की ओर बढ़ चला। सिरोंज में डॉ. वायसी ने सन 1823 में ही आधार रेखा नापने हेतु उचित जगह की तलाश कर ली थी। अगले दो-तीन माह तक एवरेस्ट के उसी क्षेत्र में काम करना था। उस क्षेत्र में पहुंचकर उसने सिरोंज से दस मील पश्चिम में कल्याणपुर नामक जगह में एक अस्थायी खगोलीय वेधशाला स्थापित कर दी थी।

-अरुण कुमार असफल : 'तबीयत बिगड़ती रही, मिजाज बिगड़ता रहा और काम चलता रहा' : *महाअभियान की महागाथा 78 डिग्री*

1. *उपस्थिति का अर्थ* : ज्ञानरंजन

ज्ञानरंजन हमारे समय के ऐसे कथाकार हैं जो अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के अलावा जीवंत किंवदंतियों में भी निवास करते हैं। भले ही वे स-शरीर जबलपुर में रहते हों, लेकिन हर साहित्यिक गलचप में उनकी अदेह उपस्थिति बनी ही रहती है। इस संदर्भ में भी उनकी 'उपस्थिति का अर्थ' मायने रखता है।

इस पुस्तक में उनके 12 व्याख्यान और वक्तव्य, एक संस्मरण, दो रेडियो संवाद और वार्ता, 7 साक्षात्कार और एक रंग-यात्रा पर किया गया विचार-विमर्श है। ज्ञानरंजन का मानना है कि 'हमको

अपनी विद्या पर मास्टरी करनी चाहिए।' इस संदर्भ में मंगलेश डबराल उनकी इसी क्षमता पर ब्लर्ब में टिप्पणी करते हैं, 'यह तय करना अक्सर कठिन रहा है कि ज्ञानरंजन की रचनाओं में कथ्य ज़्यादा' विलक्षण है या उनकी भाषा। दोनों आपस में इस कदर गुंथे हैं कि अलगाना प्याज के छिलके उतारने जैसा होगा।'

ज्ञान की कहानियों पर बात करना मेरे ख़याल से उनके कथेतर गद्य से ज़्यादा' आसान है। क्योंकि यहां विचारधारात्मक, अवधारणागत परिभाषिकताओं की संशलिष्टता कहीं अधिक है। उत्तर आधुनिक मुहावरे में कहें तो उसे 'डी-कोड' करना ज़्यादा' श्रम साध्य और विश्लेषणात्मक कौशल की मांग करता है। व्याख्यान हो, वार्ता हो, संस्मरण हो या साक्षात्कार, वे सामाजिक समस्याओं को साहित्य-संस्कृति के नज़रिये से देखते और विचारधारात्मक संवाद करते हैं। बेशक उनकी धार मार्क्सवादी ही होती है, लेकिन पार्टियों और उनके जन संगठनों और लेखक संगठनों पर तीखी टिप्पणियों से भी वे नहीं चूकते। सब कुछ के बावजूद उनके वैचारिकी और विचार प्रणाली का संक्षेप में तज़किरा करना संभव नहीं है।

मसलन जब वे कहते हैं कि सभ्यता ने हमेशा अपनी ही बनायी चीज़ों को तोड़ा है, अगर हम आज अपनी ही बनायी हुई चीज़ों को नहीं तोड़ेंगे तो हमारा जो दृष्टिकोण है, वह बहुत अफ़सोसनाक होगा। ज़ाहिर है कि यहां वे नयी दुनिया की पैरोकारी में खड़े नज़र आ रहे हैं। सभ्यता का आशय यहां परिवर्तन की कामना है। यह असंभव कामना नहीं क्योंकि 'दुनिया में कुछ ऐसी चीज़ें हैं, बची हुई हैं जो अच्छी चीज़ों को पहचानती हैं।'

ज्ञान मानते हैं कि कथित उत्तर आधुनिक समाज 'ऊबा हुआ पूंजीवादी समाज है। यह दस मिनट के बाद ऊब जाता है। यह हर चार दिन के बाद अपनी कार का मॉडल बदल देता है। हर दस दिन बाद अपना सूट बदल देता है। यह अपना कलम बदल देता है। यह ऊबे हुए लोगों का समाज है। यह जो ट्रेजडी है, यही हमारे लिखने का विषय है।' ज़ाहिर है वे 'यूज़ एंड थ्रो कल्चर' के विरुद्ध हैं। उनका लेखकों से कहना है कि 'रेत से तेल नहीं निकल आता। लेकिन क्रियेटर्स जो हैं वे बालू से भी तेल निकाल लेते हैं'। यह तभी संभव हो पाता है जब क्रियेटर अपनी विद्या का मास्टर हो जाता है। पाठक, संपादक के बतौर ज्ञान के 'भीतर एक दरिंदा प्रशंसक बैठा है, जिसकी भूख बड़ी है और उसमें उत्कृष्टता का भाव भी प्रबल है।'

बाज़ारवाद पर उनकी टिप्पणी- 'जो पूंजीवाद का अंडरवर्ल्ड है, जहां दिग्गज दिमाग़ नीतिनिर्धारक बैंकर्स पूंजी का खेल चला रहे हैं। जहां यौवन का उपयोग हो रहा है, यौवन को घुन लग रहा है। जहां प्रतिपल मृत्यु की चिंता पर आतिशबाज़ी हो रही है।' पाठक इस संदर्भ में कुबैत पर कारपेट बौंबिंग, गुजरात का नरसंहार और हाल ही में दिल्ली में प्रायोजित दंगों के दृश्य ध्यान में लायें। विडंबना यह है कि 'पहले आदमी की हत्या पर दु:ख होता था। अब इस बात का दु:ख होगा कि मुआवज़ा क्यों नहीं मिला, फिर इस बात का दु:ख है कि भ्रष्टाचार बहुत हो गया है और आधा मुआवज़ा उसमें घुस जाता है।'

रक्त रंजित अतिवाद से कविता-कहानी को बचाने के लिए वे सावधान करते हैं। 'इतिहास विमुखता का विस्फोट हमें इतिहास के बाहर ढकेल रहा है। यह एक त्रासद विडंबना है।' क्या इससे लड़े

बिना कोई उपाय है? यहां वे आज़ाद भारत की पहली से अब तक की सरकारों के क्रियाकलापों पर उंगली उठाते हैं। वे सांप्रदायिकता, सामाजिक विघटन, विखंडन, फ़ासीवादी आहटों की जांच पड़ताल करते हैं और स्वतंत्रता-समर में अर्जित मूल्यों की कसौटी पर इस कालखंड की विवेचना का आग्रह करते हैं। सीधे-सीधे राजनीति पर कटाक्ष करते हुए वे कहते हैं कि 'भाजपा एक ऊबी-छुपी हिंदू-कांग्रेस का विस्फोट है, विकास है।' दंगों के इतिहास पर विभूति नारायण राय की किताब के संपादकीय से वे उद्धृत करते हैं, 'सारे संवाद में हिंदू ही एकमात्र ऐसा समुदाय है जिसमें बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में स्त्रियां जला दी जाती हैं। किसी दूसरे समुदाय में ऐसी बर्बरता नहीं है। हमें इस सत्य को भी सर्व साधारण तक पहुंचा देना चाहिए कि देश का एक भी दंगा ऐसा नहीं है जिसमें मरनेवालों में हिंदुओं की तादाद ज़्यादा' रही हो।' बक़ौल ज्ञान 'हिटलर भी चुना हुआ व्यक्ति था। फ़ासिज़्म एक हद तक इतना चमकदार हो जाता है कि लुभाने लगता है। भाजपा सत्ता में आकर जनतंत्र नहीं फ़ासीवाद ही लागू करेगी।' उनकी कही यह बात इससे प्रमाणित होती है कि कथित साधु-संत कहते हैं कि हम संविधान नहीं मानते। इतिहास का विद्रूपीकरण हो रहा है। विचारवान लोगों से लेकर वंचितों, महिलाओं की आये दिन हत्याएं हो रही हैं। संवैधानिक संस्थाएं नष्ट हो रही हैं। शैक्षिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इदारे नष्ट किये जा रहे हैं।

मैंने पहले ही माना है कि ज्ञानरंजन के कथनों की विवेचना करने बैठेंगे तो बात दूर तलक जायेगी। बहरहाल, वे मानते हैं कि 'आप रावण को मुक्का मारते रहिए, वह बड़ा होता चला जाता है।' यह रूपक अपने में बहुत कुछ कह जाता है। 'विकास की अवधारणा में गांव कहां हैं?' इस वक्तव्य के शीर्षक में ही वक्तव्यकर्ता की मंशा स्पष्ट है। हालांकि यह वक्तव्य ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखी रचनाओं के आधार पर ही है, फिर भी यह निष्कर्ष निकालने में ज्ञान सफल हैं कि उत्तर भारत में पारंपरिक गांव के निशान तेज़ी से मिटे हैं। अगले दौर में गांव के बिंब और बदलेंगे। 'विकास' के विनाश से न सिर्फ़ ग्रामीण जनसंख्या हलकान होगी बल्कि अपराध, भुखमरी, भेद और रक्तपात का तीखा अनुभव देखने को मिलेगा। बाज़ार अपना नियंत्रण गांव में बढ़ायेगा। आज हालत यह है कि ग्रामीण उद्योग या तो ख़त्म हो गये हैं या ख़त्म होने की कगार पर हैं।

उपस्थिति का अर्थ में पुरस्कारों, सम्मानों, सम्मानों की जुगाड़ों और उसकी राजनीति और ख़ेमेबंदी पर भी प्रहार किये हैं। धर्मवीर भारती के बहुविक्रीत उपन्यास, *गुनाहों के देवता* में इलाहाबाद का काव्यात्मक चित्रण ऐसा है कि उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। उसी इलाहाबाद पर ज्ञानरंजन की एक रेडियो वार्ता है, 'छोटी-छोटी पत्तियों से बनी स्मृतियों की एक टहनी' में इलाहाबाद की टोपोग्राफ़ी का वैसा हुस्न तो नहीं है जैसा भारती में है, लेकिन इसमें तद्समय के साहित्यिक वातावरण, संबंधों की ऊष्मा, संस्कृति के रंग और आवारगी के छंदों का भरपूर सौंदर्य है। इसे पढ़ना एक सांस्कृतिक युग से गुज़रने जैसा है। समकालीन कविता के यशस्वी कवि केदारनाथ सिंह पर उनका बहुत सुंदर आलेख है जिसमें केदारजी को वे 'कविता समाज को बेहतर और उन्नत करने का उपक्रम करने वाले भारतीय कवि' की तरह निरूपित करते हैं। उनके अनुसार केदारजी की कविताओं के अंतर्गत कविता संसार में मुग्ध कर देने वाली सादगी और संप्रेषण है। कविता की पहुंच पर स्वयं कवि की उक्ति है, 'आदमी की मुक्ति चाहे जहां भी होती हो, पर कविता की मुक्ति आदमी पर पहुंचने में ही

है।' कविता के इसी सार तत्व के आशिक़ हैं ज्ञान। पुस्तक में हरिशंकर परसाई की ट्रेजडी का बेबाक़ विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

कवि और रंगकर्मी अलखनंदन पर उनका प्यार, भावपूर्ण स्मरणात्मक आख्यान भी है 'रंगकर्मियों के जत्थे उदास हैं'। इसमें अलख ही नहीं, जबलपुर का रंग वितान भी नज़र आता है। शेष उनके साक्षात्कार हैं। जहां वे बेलाग ढंग से हमारे समय के नरक, कहानी, गद्य, साहित्य में बाज़ारवाद का संक्रमण, अपने प्रेम विवाह और निजी संबंधों, संचार क्रांति, नामवर सिंह की होस्टाइल भाषा बोलने की आदत और *पहल* की लंबी यात्रा पर अपनों की राजनीति, अपनी ज़िदों, संकल्पों के साथ प्रस्तुत होते हैं। मुख़्तसर यह कि इस पुस्तक से आपको ज्ञानरंजन के अभ्यांतर का भरपूर परिचय मिल जाता है।

2. *वह हंसी बहुत कुछ कहती थी* : राजेश जोशी

क्या हंसी का हमारे आधुनिक जीवन में तेज़ी से क्षरण हो रहा है? क्या लोग यह समझ चुके हैं कि हंसना अब हंसी खेल नहीं रह गया है? क्या हंसी केवल आधुनिक हास्य क्लबों का शगल भर रह गया है? हंसना क्या मुख विवर या फेंफड़ों और मांसपोशियों की कसरत भर है? इन नकारात्मक सवालों से यदि आप ऊब रहे हैं तो सवाल उठते हैं कि आपके लिए हंसी क्या प्रतिरोध का एक विश्वसनीय अस्त्र है या कि किसी भी हथियार के विरुद्ध एक निहत्थी चुनौती? और क्या यह निहत्था हथियार सत्ता को, तानाशाह को, शक्तिसंपन्न को ललकारने वाली समझदारी भरी और साहसिक कार्रवाई है?

ये सारे सवाल 'हंसी बहुत कुछ कहती थी' नामक आलेख के हैं। राजेश पूरी शिद्दत से मानते हैं कि हंसी कारआमद शस्त्र है-अगर उसका उपयोग किया जाये। इसके लिए सहज संज्ञान और नार्मल सेंस ऑफ़ ह्यूमर काफ़ी है। राजेश जोशी का मानना है कि 'उपभोक्तावादी पूंजीवाद और उसका मुक्त बाज़ार हमारी नैसर्गिक वृत्ति और सहजबोध को आहत कर रहा है। वह हर पल दूसरों से अपनी तुलना करता है। वह या तो बेहतर होने का दंभ पैदा करता है या एहसास-ए-कमतरी। इस तनाव में हमारी हंसी दिनोंदिन कम हो रही है।'

इस तनाव से खाते-पीते, अघाये उच्च या मध्यमवर्गीय स्त्री-पुरुष भी अछूते नहीं हैं। उन्होंने तनाव मुक्ति के लिए हास्य क्लब तो बनाये जो शहरों के पार्कों, नदी के किनारों या तालाब के पास के मैदान में नज़र आते हैं। उनके लिए सामूहिक हंसी का अभ्यास तनाव मुक्ति का कारक नहीं बनता, उनके लिए हंसी मांसपेशियों और फेंफड़ों की कसरत भर होकर रह जाती है।

तब हंसी अस्त्र कैसे है? या कैसे बन सकती है? राजेश का जवाब है, भारतेंदु हरिशचंद्र के *अंधेर नगरी* या बालमुकुंद गुप्त के *शिवशंभू के चिट्ठे* के अंदाज़ में, जहां विवेक का हंसी से अन्योन्याश्रित संबंध है। यह हास्य क्लबों की हंसी नहीं है। वे कहते हैं कि रघुवीर सहाय ने क्रूर और हिंसक हंसी की ओर इशारा 'यह कह कर आप हंसे' मुहावरे के साथ किया। नाटकों-फ़िल्मों के खलनायकों और रामलीलाओं के राक्षसों की हंसी की तरह होती है, क्रूर शासकों तथा तानाशाहों की हंसी।

स्पेन के तानाशाह के हवाले से राजेश कहते हैं कि फ्रांको ने अपनी जनता के लिए आदेश

निकाला कि स्पेन में अभिवादन का तरीक़ा आगे सीधा हाथ करके सिर झुकाकर तीन बार फ्रांको कहना होगा। (दरअसल यह हिटलरी अंदाज़ की प्रतिष्ठापना थी)। तानाशाह के हुक्म का तुरंत पालन हुआ। मगर दो दिन बाद एक संस्कृतिकर्मी केफ़ेटेरिया गया और मेज़ पर तीन बार मुक्के मार कर उसने कॉफ़ी-कॉफ़ी-कॉफ़ी का आदेश दिया। क्षणांश के सन्नाटे के बाद ठहाके गूंजे और स्पेन में अभिवादन के आदेश पालन के साथ हर चीज़ बाज़ार में तीन-तीन बार मांगी जाने लगी। पूरा स्पेन ठहाकों से भर गया। घबराकर फ्रांको ने अपना तानाशाही आदेश वापिस ले लिया। यह स-विवेक हंसी की ऐतिहासिक जीत थी।

राजेश जोशी हंसी की सैद्धांतिकी ही नहीं गढ़ते, वे व्याख्यानों में, सभाओं में और प्रतिरोध की कार्रवाईयों में तानाशाही, एकायामी निज़ाम की वृत्तियों के विरुद्ध हंसी को समकालीन प्रसंगों में हथियार की तरह इस्तेमाल भी करते हैं। यहां तक कि उनकी कविताओं तक के लबो-लहजे में यह तत्व पाया जाता है। कवि के अलावा वे कथाकार, उपन्यासकार, आलोचक और नाटककार भी हैं, इसलिए हंसी की कहन के बहुविध प्रयोग भी करते हैं। विख्यात रंग निर्देशक बंसी कौल के साथ उन्होंने श्रीलंका की एक लोक कथा के आधार पर एक नाटक लिखा था, *टंकारा का गाना*। यह ऐसे काल्पिनक द्वीप बनाकर किया गया नाटक है जहां हंसना प्रतिबंधित था। कुछ चीज़ चाहिए तो उसके मान से निर्धारित कोड़े खाइए और वांछित वस्तु ले जाइए। हंसना राष्ट्रद्रोह था। इसी द्वीप पर धरती से निर्वासित एक विदूषक पहुंच जाता है। जिसे राजदरबार में नौकरी मिल जाती है। वह निज़ाम के चलन से नावाक़िफ़ था। कोड़ों की मार से उसकी पत्नी मर जाती है। वह प्रतिज्ञा करता है कि द्वीप के लोगों को हंसना सिखा कर रहेगा। यह, वह तमाम यत्नों से संभव भी कर देता है। हंसीयुक्त अवाम को तब अपने कष्टों और अन्यायों को महसूस करने का माद्दा हासिल होता है। राजेश के इस नाटक का निष्कर्ष है कि हंसी को मांसपेशियों की कसरत समझने की बजाय उसे प्रतिरोध की एक कार्रवाई के रूप में या सत्याग्रह के रूप में उपयोग में लाया जाये। उन्हें आश्चर्य भी है कि गांधी जी ने इस अहिंसक हथियार को जनता के हाथ में क्यों नहीं सौंपा?

'हमारे समय का स्वप्न ज़िद्दी गोरैया और हाथी दांत के डिब्बे में रखा मोती' नामक आलेख में उन्होंने उड़िया आदिवासियों की कथा के आधार पर कहने की कोशिश की है कि हम अपने ही सपनों पर अतिविश्वास करने लगे हैं (जंगे आज़ादी के स्वप्नों का पाठक ध्यान करें)। जबकि बेहतर जीवन के सपने ही तो आत्मा की चौकीदारी करते हैं। जब सपने छिन जाते हैं, जब सपने मर जाते हैं तो आत्मा की रखवाली करने वाला कोई नहीं होता। 'मनुष्य जब तक है वह सपने देखेगा ही। वह बहुत देर के लिए भय और आशंका के साम्राज्य में अपनी आत्मा को अकेला नहीं छोड़ सकता।' लेखक के अनुसार हर समय के स्वप्न भले ही अलग अलग से दिखते हों, लेकिन बुनियादी स्वप्न कभी नहीं बदलता। मनुष्य का बुनियादी स्वप्न हमेशा एक ऐसा समाज चाहता है जिसमें ऐसी हर क़िस्मी ताक़त का पराभव हो, जो दूसरे पर शासन करने में, अन्याय करने में, ग़ैरबराबरी बढ़ाने का काम करती हो। इस सपने से जुड़ने के लिए ज़रूरी है कि बुनियादी स्वप्न के साथ गहरा सरोकार हो। यहां पाश की कविता की पंक्ति 'सबसे कठिन होता है-अपने सपनों का मर जाना' बेसाख़्ता याद आती है। इसलिए भी कि पाश और राजेश की स्वप्नदृष्टि की विचारभूमि एक ही है।

वैसे इस158 पृष्ठीय किताब के छह खंड हैं। 'प्रसंगवश' खंड में, 'सौ रस्सी का झूला और सूर्य की कविता', 'एक सम्राट एक कवि का क़र्ज़दार है आज भी', 'मित्रता और मतभेद के बीच एक महात्मा और एक कवि', 'कविता क्या है', 'एक निबंध के सौ बरस', 'जंगम विद्यापीठ के कुलपति और दुनिया के इतिहास का दूसरा प्रामेथ्यूस', 'जोगनिया कोठी की दो आधुनिक थेरी गाथाएं', 'ओ मेरी कविता कहां हैं तेरे श्रोता', 'तुम अलि के नव रस रंग राग' और 'भूख के राज्य में क्या पृथ्वी सचमुच गद्यमय है'-जैसे कथेतर गद्य के शीर्षक हैं। इनका चरित्र एक जैसा नहीं है। भाषा में काव्यात्मकता और रूपकों का बहुविध प्रयोग है, लेकिन राजेश रोचकता बनाये रखते हैं।

'जगहें और यात्राएं' खंड में म्यांमा, हांगकांग, मकाऊ और शेनजांग यात्राओं के दिलचस्प और रोचक वर्णन हैं। इनमें इन जगहों की समाजार्थिक स्थितियों और सामाजिक विडंबनाओं को पर्याप्त जगह दी गयी है। लेखक की नज़र हांगकांग मकाऊ के बहाने चीन में पश्चिमी संस्कृति के विक्षोभ का रोचक, कारुणिक और राजनीतिक विवरण भी मिलता है। अलबत्ता इंदिरा सागर डेम में डूबते प्राचीन क़स्बे हरसूद की मार्मिक कथाएं हैं। फ़िक्शन से ज़्यादा' कारुणिक और मर्माहत करने वाली। विकास की ढब पर नज़र टेढ़ी करती हुई। रंगश्री लिटिल बैले ग्रुप भोपाल के संदर्भ से अज्ञेय से भेंटें, मुलाकातें, बातचीतें सहमते से प्रस्तुत की गयी हैं। 'विनय दुबे का अहाता' भोपालियत, साहित्यिक गलचपों, रसरंजन, साहित्य चर्चा और पंगेबाज़ी की रोचकता लिये हुए है। जबकि 'सफ़र पर निकल तो पड़े हो लेकिन...' में कविवर वेणुगोपाल की जीवंत और भीगी यादें हैं। 'पता नहीं मछलियां कैसे रोती हैं' में रोचकता से विज्ञान लेखन करने वाले मित्र बृजमोहन के साथ के संस्मरण और *युवासंसार* नामक छोटे अख़बार के लिए दिल्ली यात्रा का प्रसंग है। एक साक्षात्कार नेहरू युग की बहुचर्चित सांसद तारकेश्वरी सिन्हा का भी है। यह उस दौर की बात है जब युवा कांग्रेस में बहस मंज़रेआम थी कि युवा की उम्र क्या हो? किस उम्र तक के लोगों का शुमार युवा में किया जाये। इस बाबत ताराजी से सवाल पूछा गया तो उन्होंने तमक कर जो उत्तर दिया वह ख़ासा दिलचस्प है। तारकेश्वरी ने कहा कि 'आप माओ-त्से-तुंग को क्या जवान नहीं मानते? जवान होना उम्र से नहीं विचारों से होता है। पच्चीस साल के कई लड़के और युवा नेता मुझे अपनी सोच-समझ में बूढ़े नज़र आते हैं।' बाकी लेख चुटकुलों, 'असहमति', 'शब्द में समय', 'सृजनात्मकता और साक्षरता', 'उर्दू है जिसका नाम', 'अब तक क्या किया' जैसे विषयों पर हैं। अंत में एक बैगा आदिवासी कथा के माध्यम से एक आत्मावलोकी चर्चा है। इसके कुछ अंश हैं : 'मूर्खता और क्रूरता से भरे इस समय में जब बाहरी ही नहीं आंतरिक लोकतंत्र को भी आहत करने के सतत उपाय जारी हैं, हर कवि की स्थिति कहानी के उस पात्र की तरह है जिसके भीतर अनेक कविताएं बाहर आने को छटपटा रही हैं।' 'सांस्कृतिक रूप से इतना विपन्न और बौद्धिक रूप से दिवालिया मध्य वर्ग पहले कभी नहीं रहा।' कहना न होगा कि इस समय कविता की स्थिति चाहे जो हो, लेकिन वह सारे अपशगुन को भांप रही है और कवि को बार बार सतर्क भी कर रही है। विद्यागत गड्डमगड्ड और खिलंदड़ेपन के बावजूद यह किताब हर हाल में सबको सतर्क करने वाली ज़रूर है।

3. *मनुष्य का अवकाश* : कुमार अंबुज

कुमार अंबुज नाम सुनते ही एक सख़्त जान और प्रतिबद्ध कवि का चेहरा उभरता है। कवि होने की शर्त

पूरा करते हुए वे विचार या विचारधारा से समझौता नहीं करते। वे कविता में भी कला-कौशल को विचार पर वरीयता नहीं देते हैं, फिर *मनुष्य का अवकाश* तो उनके वैचारिक निबंधों का ही संग्रह है जिसमें वे श्रमशक्ति, श्रमजीविता, धर्म, धर्मांधता और सत्ता-व्यवस्था के मसाइल पर अपने को केंद्रित करते हैं। हालांकि कविता जैसी सूत्रबद्धता और संश्लिष्टता इन निबंधों में भी है लेकिन वे रूक्षता की हद तक जाकर ट्रेड यूनियन और वैचारिकता के पक्ष में खड़े नज़र आते हैं। सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक प्रश्नों से जूझते-टकराते हुए वे कहीं भी प्रतिरोध की ज़रूरत को वरीयता देने से नहीं चूकते। कह सकते हैं कि यह पुस्तक उनकी वैचारिकता का आईना है। विज्ञानबोध को वे हर मीमांसा में आगे रखते हैं।

संकट यह है कि सवा सौ पृष्ठों की इस किताब में वे जिन विषयों को चुनते और उठाते हैं, उन्हें मार्क्सवाद और वैज्ञानिक नज़रिये से डील करते हैं, उन पर संक्षेप में चर्चा करना संभव नहीं है। मैंने जब मास्टर ऑफ़ आर्ट्स की डिग्री ली तो जवानी के जोश में मान लिया कि हम विषय-विशेष के मास्टर हो गये हैं। यहां-वहां इसकी शेख़ी बघारने में भी संकोच नहीं किया। तब एक दिन मेरे ग़ुरूर की धूल साफ़ करते हुए कामरेड मोतीलाल शर्मा ने कहा कि तुम्हें एक विषय की लायब्रेरी खोलने की मास्टर-की भर मिली है। इस आगार से तुम कितना अर्जित कर पाते हो, इस पर ही तुम्हारा मास्टर होना मुमकिन है, वरना ताउम्र डिग्रीधारी ही बने रहोगे, बस। *मनुष्य के अवकाश* पर संक्षेप में चर्चा करते हुए मैं सुविज्ञ पाठकों को महज़ एक चाबी का गुच्छा दे पाऊंगा जो बतायेगा कि किस प्रकोष्ठ में कहां क्या धरा है। कुमार अंबुज के वैचारिक संसार को बूझने के लिए आपको *मनुष्य के अवकाश* से गुज़रने के अलावा कोई चारा नहीं है।

इन निबंधों के शीर्षक कुमार की वैचारिकी का संकेत बहुत स्पष्ट रूप से देते हैं। मसलन 'श्रम के घंटे और मनुष्य का अवकाश' में दासप्रथा से अब तक हुए श्रम के शोषण के प्रसंग और श्रम के घंटे निर्धारित करने के संघर्ष, उपलब्धियों और असफलताओं का ख़ाक़ा उभरता है, जहां श्रमिक वर्ग अकेला है और रूढ़ियों, अवैज्ञानिकताओं, धर्म, अंधविश्वास, असमानता की पोषक हिंस्र पूंजी के निर्मम खेल साथ-साथ हैं। यहां अंबुज वेशी मूल्य से प्राप्त मुफ़्त की पूंजी की विशद् व्याख्या भी करते हैं। उनकी नज़र श्रमिक के मनुष्यत्व के तकाज़े पर है। वे सवाल करते हैं कि क्या मनुष्य के अवकाश का सौदा संभव है? क्या नौकरी और दासता में कुछ फ़र्क़ है? इन सवालों के जवाब का एक मानवीय उत्तर यही हो सकता है कि श्रमिक यंत्र नहीं, जीवित मनुष्य है। यहां वे श्रमिक संगठन की ज़रूरत को रेखांकित करते हुए मानवाधिकारों और समतावादियों की उत्तरदायी ज़रूरत को भी संघर्ष से ओझल नहीं होने देते। चूंकि कुमार अंबुज सक्रिय ट्रेड यूनियनिस्ट रहे हैं, इसलिए वे बढ़ती बेरोज़गारी, रोज़गार-सुरक्षा की अनिश्चितता के साथ 'हायर एंड फ़ायर' की धनपतियों की रीति-नीति और सत्ता-व्यवस्था द्वारा स्वीकृत आउटसोर्सिंग के अपकर्म की तीखी आलोचना करते हैं। जीवन की गुणवत्ता की ज़रूरत को दरपेश करते हुए वे प्रतिष्ठानगत षड़यंत्रों को काला-जादू ठहराते हुए मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग को विखंडित करने के लिए ही मध्यवर्ग को अलग दिखाने की चाल चली जाती रही है। मालिकों से मित्रता के ख़तरों के साथ उनका ध्यान संस्थानों के लाभ में वैश्विक पूंजी के खेल और 'कींज़' के कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की चीरफाड़ की ओर भी जाता है।

उन्हें फ़ील्ड में काम करते हुए ट्रेड यूनियन के भूले हुए काम याद आते हैं और वे इस निबंध में

ट्रेड यूनियन की चुनौतियों पर भी खुलकर विचार करते हैं। हमारा समकाल श्रमिकों के शोषण की पुरानी बीमारियों के लौटने का समय है। उनके अनुसार इसमें नौकरी की अनिश्चितता, श्रम क़ानूनों का हनन, कार्य-घंटों की असीमितता, सेवा-शर्तों का उल्लंघन जैसी गंभीर समस्याएं हैं। इन्हें चुनौतियों की तरह लेने की ज़रूरत को वे रेखांकित करते हैं। श्रमिक संगठनों की वैचारिक शिक्षा की अनिवार्यता पर ज़ोर देते हुए वे मार्क्स के कथन को दोहराते हैं कि 'ट्रेड यूनियन मज़दूरों के तात्कालिक हितों की रक्षा का साधन ही नहीं है बल्कि पूंजीवाद के उन्मूलन के संघर्ष में सर्वहारा के संगठनकारी आंदोलन का केंद्र भी है।' श्रमिकों की लड़ाई अब ज़्यादा जटिल है क्योंकि उनके मुख़ालिफ़ अब पूंजीपति वर्ग द्वारा संरक्षित-पोषित दक्षिणपंथी ट्रेड यूनियनों की चुनौती भी है। वे ट्रेड यूनियन को नये समाज गढ़ने का कारख़ाना मानते हैं लेकिन यह राजनीतिक और क्रांतिकारी सक्रियता के बिना संभव नहीं है। 'सबसे अच्छा और सबसे ताकतवर' लेख में वे सखेद कहते हैं, 'वामपंथी राजनीति के बारे में विचार करते हुए यह दुर्घटना बार-बार याद आ सकती है कि सबसे अच्छे विचार के संवाहक होते हुए भी वे कभी इतने ताक़तवर नहीं बन सके कि देश के करोड़ों लोगों के लिए मानवीय गरिमा और न्याय की पूर्ति का स्वप्न पूरा कर पाते।' वे अलक्षित नहीं करते कि जिस विशाल वंचित-वर्ग को सबसे शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए था, वह दुर्योग से हमारे यहां 'वर्ग' के बजाय 'जाति' के रूप में ज़्यादा विभाजित और चिह्नित है।

समाज की प्रारंभिक अवस्था में परिवार का मूल व्यवहार आडंबररहित था, लेकिन समाज के सामंती आचरण में रूपांतरित होते ही वह पितृसत्तात्मक हो गया। ज़ाहिर है परिवार अगर सामंती अवधारणाओं से संचालित है तो उसे दासत्व की ज़रूरत होगी। 'दासता के कार्यभार के लिए स्त्री को चुना गया'। उसे इस तरह संस्कारित किया गया कि वह ग़ुलामी को मंगलसूत्र की तरह धारण करने लगी। 'स्त्री स्वातंत्र्यं न अर्हति' की मनुवादी अवधारणाएं उस पर कैसे लादी गयीं, इसका विशद विवेचन कुमार अंबुज 'जैसा समाज होगा, वैसा परिवार' में मार्क्सवादी नज़रिये से करते हैं।

मनुष्य का अवकाश खंडों में विभक्त तो नहीं है, लेकिन, 'धर्म के विकल्प की परिकल्पना', 'प्रेम के संदर्भ में संस्कृति की दुहाई', 'वर्गीय पहचान और धर्म आधारित पहचान', 'सामाजिक संकल्पहीनता के ये कुंभ मेले' जैसे निबंधों में वे धर्म के नाम से प्रसारित मूढ़ताओं से निर्भीकतापूर्वक दो -चार होते हैं। इन्हें निबंध कहना कहां तक ठीक है, मैं नहीं जानता; लेकिन ये समय की चुनौतियों से जूझते हुए समय-समय पर जन-शिक्षण और वैचारिक बहस के लिए तैयार पर्चों के रूप में ही पहले सामने आये हैं। आज कोविड-19 के काल में (2021) जिस तरह कुंभ के आयोजन ने जन-जीवन को संकट में डाला है और कोरोना से संक्रमण का व्यापक विस्तारण किया है, वह जीवित इतिहास का भयंकर परिच्छेद है। उत्तराखंड की राजसत्ता ने तो उल्टे 'शाही-स्नान' पर हेलीकॉप्टर पर पुष्पवर्षा कर विश्व स्वास्थ्य संगठन और भारतीय स्वास्थ्य और गृह मंत्रालय की घोषणाओं-निर्देशों का एक तरह से मानमर्दन ही किया है। कुंभ के अखाड़ाधिपतियों ने फ़ास्ट फ़ूड के ज़माने में इंस्टेंट मोक्ष की व्यवस्था भोली आस्थावान जनता के लिए की, जिसने देशभर के श्मशानों को 'गुलज़ार' किया। यह अंबुज के 'सामाजिक संकल्पहीनता के ये कुंभ' आलेख की तसदीक़ है। बहरहाल, धर्म संबंधी इन निबंधों में धर्म के दैत्याकार, अपरिमित और अतीव बलशाली रूप के के अपफलित परिणामों, वर्ग विशेष की

धर्मसत्ता में महिला-दलित उत्पीड़न, उच्च वर्गों की तानाशाही, सर्वज्ञ होने के धर्मांध अहंकार, धर्म और पूंजी की सम्मिलित हिंसा, धर्म का नशे में रूपांतरण से उपजे मनोरोगों, धर्म के राजनीतिकरण, चेतना की कंडीशनिंग पर विशद विचार प्रमुख हैं। धर्म की सकारात्मक भूमिकाओं के रूप में प्रस्थापित विडंबनाओं का विवेचन करते हुए लेखक मार्क्स को उद्धृत करता है : 'धर्म उत्पीड़ित प्राणी की आह है, निर्दय संसार का मर्म है, निरुत्साह परिस्थितियों का उत्साह है।' यहां धर्म की अफ़ीम के नशीले उत्पाद के रूप में प्रवर्त्तित होने की कहानी तो कही ही गयी है, यह भी साफ़ किया गया है कि 'धर्म के उन्मूलन का अर्थ है, जनता के वास्तविक सुख की मांग करना।' धर्म एक काल्पनिक सुख है जो कभी सचमुच या यथार्थ के अनुभव में परिलक्षित नहीं होता।

धर्म की अपराजेयता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिकता को धोखा, प्रेम के संदर्भ में (धर्म) संस्कृति की दुहाई, वर्गीय बनाम धर्माधारित पहचान जैसे बिंदुओं का विशद विवेचन भी *मनुष्य के अवकाश* का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। एक कहानी 'मंदिर चौराहा' भी इस पुस्तक का दिलचस्प हिस्सा है जो एक मध्यवर्गीय मनुष्य की त्रासद विडंबनाओं का मार्मिक आख्यान भी है।

कुमार अंबुज की इस पठनीय पुस्तक के अंत में उपर्युक्त संदर्भों में 'अन्य मंचों का उपयोग या उपभोग' पर विचारोत्तेजक बहस उठायी गयी है।

4. धरती पर अक्षांश-देशांतर रेखाएं खींचने की महागाथा

अंधों को जब हाथी को पहचानने और उसके आकार-प्रकार का विवरण बताने को कहा गया तो एक ने उसे खंबे जैसा, दूसरे ने दीवार जैसा, तीसरे ने रस्सी जैसा, चौथे ने सूप जैसा और पांचवे ने अजगर जैसा बताया। तीन-चार सौ साल पहले पृथ्वी के बारे में हमारी जानकारी के स्त्रोत कुछ ऐसे ही थे। बीसवीं सदी के आते आते कृत्रिम उपग्रहों की उपस्थिति ने पृथ्वी के आकार-प्रकार की गुत्थी सुलझा ली। अब तक विज्ञान की उपलब्धियां इतनी हो चुकी थीं कि किसी ग़लती की कोई गुंजाइश ही नहीं रही। चार-पांच सौ साल पहले जब विज्ञान के नाम पर अनुमान और अनुभव के अलावा कोई उपकरण उपलब्ध नहीं था तब तो व्यापार के लिए देश-देशांतर का मार्ग खोजना भी दुश्वार था जबकि यह व्यापार-व्यवसाय की ज़रूरत थी। इसी ज़रूरत के चलते पृथ्वी के आकलन की आवश्यकता महसूस हुई।

धर्म की किताबों- तज्जनित अवधारणाओं, खगोलवेत्ताओं, दार्शनिकों, गणितज्ञों और वैज्ञानिकों में व्यापक मतांतर था। न्यूटन को पृथ्वी चपटी लगती थी, ग्रीस के दार्शनिक और गणितज्ञ पाइथोगोरस और थेल्स के लिए यह गोल थी। मेसोपोटामिया (इराक़) के याल्देनिन भी पृथ्वी को गोल बताते थे। लेकिन धर्म-धुरीणों के कारण कभी इस विचार को मान्यता नहीं मिली। चर्च ने गेलीलियो की खोज पर क्या रुख़ अपनाया, यह विज्ञान-यात्रा में महा दुर्भाग्य का क्षण था।

इस भ्रम के निवारण के लिए अरब के ख़लीफ़ाओं-अबेसाइड और अलमामून ने ज्ञात दुनिया, विशेषकर भारत से पृथ्वी के आकार को जानने में गणितज्ञों और खगोलशास्त्रियों की मदद ली। सोलहवीं सदी तक पृथ्वी के आकार को लेकर भ्रम मिटा और इसे गोल मान लिया गया। इसके काफ़ी बाद सन् 1802 में भारत का मानचित्र बनाने का अभियान विलियम लेबटन ने शुरू किया, जिसे बाद में जॉर्ज एवरेस्ट ने संभाला और 1847 में यह संपन्न हुआ। यह अक्षांश और देशांतर के द्वारा संभव हो

सका।

पृथ्वी के आकार और भूभाग का मानचित्र तैयार करने के लिए देशांतर और अक्षांश रेखाओं के मध्य छोटे छोटे भागों को चापों द्वारा जोड़कर यह संभव हो सका है। यह अभियान संभवत: भारतीय भू-भाग पर, सबसे दीर्घावधि में किया गया सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभियान रहा है। इसकी आधार रेखा 78 डिग्री देशांतर रेखा थी जो कि कन्याकुमारी से मसूरी तक दो हज़ार चार सौ किलोमीटर लंबी थी। यह नाप-जोख सरल नहीं थी। इस काम में जितने लोगों को जान गंवानी पड़ी वह संख्या उस समय दो देशों के युद्ध में हलाक़ हुए सैनिकों से कहीं ज़्यादा थी। कह सकते हैं कि मृतकों ने ज्ञान-विज्ञान-अनुसंधान के लिए अपनी शहादत दी।

देहरादून के कवि कहानीकार उपन्यासकार अरुण कुमार असफल की पुस्तक, *महाअभियान की महागाथा 78 डिग्री*, दरअसल इसी गाथा का 264 पृष्ठों में विवरणात्मक शब्दांकन है। लेखकीय मेधा के सहारे कृतिकार ने विविध संदर्भों, खोज-परिणामों के बीच रचनात्मक तालमेल बिठाने का काम बड़ी सफलता से किया है। एक तरह सूचना-पूरित और नीरस से विषय में पठनीय रोचकता पैदा करना चुनौतीपूर्ण काम है जिसका असफल ने सफलता से निर्वाह किया है। इस अनुसंधान अभियान की कहानी में बेशक प्राकृतिक आपदाओं ने जैसे आंधी, तूफ़ान, भूकंप, बाढ़, बारिश, बर्फ़बारी ने बाधाएं डालीं और शोध कार्मिकों की जान ली, लेकिन लेखक ने उन्हें खलनायक ठहराने से बचाया है। अधिकतम इनका वर्णन कथा में चुनौती के स्वरूप में ही किया गया है।

लेखक के पास पर्याप्त कारण और अवसर थे कि वह विलियम लेंबटन और जॉर्ज एवरेस्ट को महानायक अथवा अतिमानव की तरह चित्रित करता और कथाकार की तरह चरित्र-चित्रण में कल्पनाशीलता का प्रयोग करता, लेकिन लेखक ने ऐसा नहीं किया। उन्हें सामान्य मनुष्य ही बने रहने दिया। परिणामत: पुस्तक थोथे चमत्कारों के अतिवाद से बची रह सकी। लेखक ने विज्ञान लेखक की तरह ही तथ्य-आधारित कथ्य पर ही ध्यान केंद्रित किया। इतिहास और विज्ञान में चमत्कार की ज़रूरत नहीं होती।

इस सबके अनंतर भाषा में सहजता-सरलता-संप्रेषणीयता श्लाघनीय है। महान चित्रकार पिकासो ने कहा था कि कला में सबसे कठिन काम सरल रेखा खींचना होता है। शोध स्तरीय वैज्ञानिक विषय की भाषा में ऐसी सरलता के लिए लेखक बधाई का बेशक हक़दार है।

मो. 9753425445

1. पुस्तक : *उपस्थिति का अर्थ* : ज्ञानरंजन
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा
2. पुस्तक : *वह हंसी बहुत कुछ कहती थी* : राजेश जोशी
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा
3. *पुस्तक : मनुष्य का अवकाश* : कुमार अंबुज
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा
4. पुस्तक : *महाअभियान की महागाथा 78 डिग्री* : अरुण कुमार असफल
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, नोएडा

पुस्तक समीक्षा

देश के भीतरी संकटों को बयां करती कविताएं

शिव कुमार यादव

भीतर का देश रमेश प्रजापति का तीसरा कविता संग्रह है। इसके पहले इनके दो कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। पहला कविता संग्रह, *पूरा हंसता चेहरा* शीर्षक से प्रकाशित है तो दूसरा, *शून्य काल में बजता झुनझुना* शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इनके सद्यःप्रकाशित तीसरे कविता संग्रह, *भीतर का देश* को पढ़ते हुए यह सहज रेखांकित किया जा सकता है कि आज मनुष्य के भीतर का देश कितना आहत, लहूलुहान एवं क्षत-विक्षत हो चुका है। वह चाहता तो सबकुछ है, पर कुछ कर नहीं पा रहा है। वह चाहता तो है कि सत्य को सत्य की तरह अभिव्यक्त कर दे, लेकिन कर नहीं पा रहा है। वह परिवर्तन तो चाह रहा है, मगर परिवर्तन कर नहीं पा रहा है क्योंकि ईवीएम ने उसके उस मौलिक अधिकार को भी ज़ब्त कर लिया है जिससे वह सत्ता परिवर्तन कर देता था। शायद यही कारण है कि आज न तो किसानों की सुनी जा रही है, न विद्यार्थियों की। न रेलकर्मियों की सुनी जा रही है न बैंककर्मियों की। न दलितों की सुनी जा रही है न स्त्रियों की। हर तरफ़ एक अजीब तरह की तानाशाही मौजूद है। सरकारें जो चाह रही हैं वही कर रही हैं, भले ही इससे भीतर का देश दहक जाये। इनकी जनविरोधी नीतियों के कारण बढ़ती महंगाई और बेरोज़गारी की समस्या ने न केवल उसे बाहर तोड़ा है बल्कि भीतर से भी खोखला कर दिया है।

पूंजीवादी सभ्यता ने मनुष्य के भीतर से उसकी मनुष्यता को मारकर जिस बारूदी विचार को भरा है, वह न केवल इस देश की आत्मा के लिए ख़तरनाक है बल्कि पूरी मानवीय सभ्यता के लिए बेहद हिंसक है। इसी कारण हमारी सत्ताएं 'आपदा में अवसर' की तलाश कर रही हैं। अपने फ़ायदे के लिए कुछ भी कर दे रही हैं। रमेश प्रजापति की कविताएं देश, समाज ,प्रकृति, मनुष्यता, सभ्यता और संस्कृति पर बार-बार सोचने की जद्दोजहद करती हैं। ये न केवल मौजूदा पूंजीवादी सभ्यता के छल-छद्म को उद्घाटित करती हैं बल्कि इसके बरक्स प्रतिरोध और प्रतिसृजन का नया आख़्यान भी रचती हैं। इनमें मनुष्यता को बचाने की अद्भुत ललक दिखायी पड़ती है। इनकी कविताओं में बुद्ध की करुणा और गांधीजी की अहिंसा बार-बार देखने को मिलती है। शायद इसीलिए 'सोचो! कई कई बार सोचो!!' शीर्षक कविता में कवि कहता है : 'वे इतिहास को झुठलाना चाहते हैं/ वे सभ्यता को लहूलुहान करना चाहते हैं/ वे जंगली बाशिंदों से जल, जंगल, ज़मीन छीनकर/ पूंजीवाद के लिए सब रास्ते खोलना चाहते हैं/ वे आग और पानी के सिद्धांत को बदलना चाहते हैं/ वे धरती को मानवता-रहित कर देना चाहते हैं/ वे आदमी के भीतर ख़ौफ़ भरना चाहते हैं/ वे हर उपलब्धि अपने नाम करना चाहते हैं/ तनिक ठहरकर कभी सोचो, मानवरहित कैसी लगेगी दुनिया/ विनाशकारी युद्ध के पश्चात्/ लाशों के बीच बैठकर सोचा था सम्राट अशोक ने/ और बुद्ध की मुस्कान से भरी/ अहिंसा परमो धर्मः से खिल उठी थी धरती की बांहें/ अरे आततायियो!/ सोचने में ख़त्म नहीं होता तुम्हारा गोला-बारूद/

इसलिए सोचो!/कई -कई बार सोचो!!'

रमेश प्रजापति की कविताएं न केवल मनुष्यता में आ रही गिरावटों को उद्घाटित करती हैं बल्कि मनुष्यता को उर्वर बनाने वाले मूल्यों की सर्जना भी करती हैं। ये आदमी बनने की प्रक्रिया को प्रमाणित करती हैं। इनमें एक तरफ़ प्रेम का राग है तो दूसरी तरफ़ प्रेम का रंग। एक तरफ़ ज़िंदगी का नया पाठ है तो दूसरी तरफ़ हवा का मिजाज़। एक तरफ़ धरती का चेहरा है तो दूसरी तरफ़ नया राष्ट्रवाद। कुल मिलाकर यह संग्रह प्रदूषित होती प्रकृति, राजनीति, सभ्यता और संस्कृति को बदलने की जद्दोजहद है। अकारण नहीं 'बदलो!' शीर्षक कविता में कवि कहता है, 'तुम पीछे क्यों छूट रहे हो/ हवा का रुख़ देखो आगे बढ़ो, लोहा गर्म हो चुका है/ भाईचारे की जड़ों में मट्ठा डालते/ राष्ट्रवाद के नाम पर जंगलराज को बदलो!/ फूलों के भ्रम में मत भटको/ जो विचार कानों में खौलते तेल से गिरते हैं/ क़तई मत सुनो/ उनकी पुकार बड़ी मोहक है/ उसके पीछे छुपे सच को समझो और बदलो! अबकी चूके तो हाथ मलते रह जाओगे/ बदलो! जितना जल्दी हो सके/ प्रदूषित होती इस व्यवस्था को बदलो!' कहना न होगा कि यहां कवि केवल सत्ता परिवर्तन की बात नहीं कर रहा है बल्कि उस व्यवस्था को परिवर्तित करने की मांग कर रहा है जो जाति, धर्म, संप्रदाय के नाम पर इस देश में सांप्रदायिकता का ज़हर बोती है, और राष्ट्रवाद व विकास के नाम पर इस देश को पूंजीपतियों के हवाले करने पर आमादा है।

आज जिस तरह से नैतिक मूल्यों और सामाजिक मर्यादाओं का पतन हो रहा है उसके बीच यदि झुकना ही पड़े तो सूरज की तरह झुको, एक नवीन संकल्पधर्मी चेतना के साथ। पूरी रचनात्मकता के साथ। कवि कहता है, 'अगर गिरना ही पड़े तो ऐसे गिरना/ जैसे रोज़ सूरज गिरता है/ समुद्र में/ धरती से एक अटल वादे के साथ।'

स्वाधीन भारतीय लोकतंत्र में अंधभक्तों की एक ऐसी जमात हर समय मौजूद रही है जो संघ के एजेंट के रूप में काम करती है। ये देश, समाज,संस्कृति, सभ्यता, प्रकृति आदि को बर्बाद होते देखते हैं पर सत्ता के ख़िलाफ़ एक शब्द भी नहीं बोलते हैं। ये सत्ता की दलाली को ही अपना सौभाग्य समझते हैं। ये अपने टुच्चे स्वार्थों के लिए सत्ता की हर अमानवीयता को सही साबित करने में ही अपना विवेक बघार देते हैं। वास्तव में यही वे हत्यारे हैं जो देश को खोखला कर देते हैं। ऐसे निपुण हत्यारों की पहचान करते हुए कवि 'निपुण' शीर्षक कविता में कहता है, 'वे चोटी पर नहीं, सीधा जड़ों पर वार करते हैं/ वे एक आवाज़ को दूसरी आवाज़ में बदलने के माहिर हैं/ वे पहाड़ को गिरते देखते हैं और चुप रहते हैं/ वे समुद्र को रिसते देखते हैं और चुप रहते हैं/ वे मज़दूर को मरते-मरते खपते देखते हैं और चुप रहते हैं/ वे किसान को आत्महत्या करते देखते हैं और चुप रहते हैं/... वे राजा के सैकड़ों हाथ हैं/ जो अंधेरे में/ हमारी गर्दन पहचानकर/ दबाने की कला में निपुण हैं।'

यह काव्यसंग्रह तथाकथित नये राष्ट्रवाद की घोषणाओं का काव्यात्मक रचाव है। नये राष्ट्रवाद की विशेषताओं का चित्रण जितना काव्यात्मक ढंग से यहां प्रस्तुत है, वह अद्वितीय है। नये राष्ट्रवाद में सत्ता के चाल,चलन और चरित्र को परखना हो तो इस संग्रह की 'वे आ रहे हैं' शीर्षक कविता पढ़नी चाहिए। इसकी कुछ पंक्तियां देखिए, 'वे आ रहे हैं/ जनता को रौंदते/ गाय को कंधे पर बैठाते/ राम को ज़मीन पर उतारते/ पूंजीपतियों को दुलारते/ किसान-मज़दूर को दुत्कारते/ वे जीवन का बेसुरा गीत गाते आ रहे हैं।'

रमेश प्रजापति की कविताओं में ग़ज़ब का साहस विद्यमान है। वे सच को सच और झूठ को झूठ कहना जानती हैं। वे साहस के अभाव में मरती नहीं हैं बल्कि सोचने पर विवश कर देती हैं। कई बार उनकी कविताएं प्रतिरोध के मुखर स्तर पर पहुंच जाती हैं, पर उसके भीतर निहित वेदना, कविता का दामन नहीं छोड़तीं। इसलिए हम उन्हें दरकिनार नहीं कर सकते हैं। जब कोई कवि व्यवस्था से बहुत व्यथित होता है तो वह उसी तरह की कविताएं रचने लगता है जैसे नागार्जुन। इनकी कविताएं देश की भीतरी परतों को प्रदूषित करने वाले कारकों की गहरी शिनाख़्त करती हैं। इसमें न केवल हम पूंजीवाद के बदलते दृश्य को रेखांकित कर सकते हैं बल्कि पूरी धरती का चेहरा देख सकते हैं। 'वे सब मारे जायेंगे' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियां देखिए, 'जो झूठ के विरुद्ध आवाज़ उठायेंगे/ जो हमारे बताये धर्म को नहीं अपनायेंगे/जो विश्वबंधुत्व का राग अलापेंगे/जो सच को सच और झूठ को झूठ कहेंगे/ वे सब मारे जायेंगे।'

रमेश प्रजापति देश के भीतर स्थित देश के कवि हैं। इनकी कविताएं देश की भीतरी राजनीति को पकड़ने में सक्षम हैं। इनमें छद्म समाजवाद और कलुषित राष्ट्रवाद को उद्घाटित करने की अद्भुत क्षमता है। इसमें एक तरफ़ बच्चों की खिलखिलाहट है तो दूसरी तरफ़ गौरैया की चहक। एक तरफ़ नदी की धड़कन है तो दूसरी तरफ़ पेड़ की उदासी का कारुणिक दृश्य। एक तरफ़ लहूलुहान बापू की आत्मा की आवाज़ है तो दूसरी तरफ़ वरवर राव की कविता की मशाल। कुल मिलाकर यह कविता संग्रह बहुत तेज़ी से बदलते सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समीकरण का काव्यात्मक रचाव है।

मो. 9454653490

पुस्तक : *भीतर का देश* (कविता संग्रह)
कवि : रमेश प्रजापति
प्रकाशक : सहज प्रकाशन, मुज़फ़्फ़रनगर, उ0प्र0
प्रथम संस्करण: 2021

पत्रिका समीक्षा

लमही का अमृतराय विशेषांक :
हिंदी साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार को भाव भरी श्रद्धांजलि

अनुराधा गुप्ता

गत 3 सितंबर 2021 हिंदी साहित्य जगत की बेहद जानी-मानी शख़्सियत अमृतराय का जन्म शताब्दी वर्ष बेहद चुप्पे तरह से बीत गया, इसकी वजह और इसकी ज़िम्मेदारी तय करने का काम किसका है, यह कहना और समझना मुश्किल नहीं। अमृतराय का 'साहित्यिक' क़द जिस ऊंचाई को छूता है, वह हिंदी जगत के लिए विस्मृति का विषय तो क़तई नहीं है। यह भी अनायास नहीं कि कई बार उनकी पहचान को सिर्फ़ कथाजगत के महानायक प्रेमचंद के छोटे पुत्र होने तक ही सीमित किया जाता रहा, क्या यह 'इग्नोरेंस' इतनी सहज है? अमृतराय के लिए, उनके जीवन काल और जीवनोपरांत, पिता के नाम की छत्र-छाया उसी तरह रही जैसे किसी वट वृक्ष के नीचे अनंत जीवन से लहलहाती वनस्पतियां। यह निर्विवाद तथ्य है कि अमृतराय ने अपने पिता की महान विरासत को अपने जीवन काल में बेहतरीन तरह से निभाया किंतु इसके अलावा उनकी स्वतंत्र साहित्यिक पहचान है, जिसे बेझिझक स्वीकार किया जाना चाहिए। अमृतराय को जीवनपर्यंत वह दृष्टि और दृष्टिकोण सालता रहा, जहां उनकी स्वतंत्र पहचान का सही आकलन नहीं किया गया। दूधनाथ सिंह इस ओर एक और विडंबना का संकेत करते हैं वह है उनकी पत्नी सुधा चौहान की, जो सुभद्रा चौहान की बेटी थीं और अमृतराय की पत्नी होने के साथ लेखकीय प्रतिभा से अत्यंत समृद्ध । बहरहाल अमृतराय का साहित्य जगत में किया गया विपुल कार्य उनके एक शानदार लेखक, जीवनीकार, अनुवादक, संपादक, आलोचक, नाटककार व विचारक के रूप में पुख़्ता तस्दीक करता है। ऐसे व्यक्तित्व के धनी अमृतराय के जन्मशताब्दी वर्ष पर *लमही* हिंदी साहित्य की एकमात्र पत्रिका रही, जिसने उन पर लगभग 325 पृष्ठ का महाकाय अंक निकालकर अपनी महती ज़िम्मेदारी का परिचय दिया। *लमही* के संपादक विजय राय ने यह अंक निकालकर न सिर्फ़ अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व को निभाया बल्कि एक पत्रिका के संपादक के तौर पर भी उन्होंने एक बड़े दायित्व का निर्वाह किया, जिसके लिए वे निश्चित तौर पर साधुवाद के पात्र हैं।

पिछले कुछ वर्षों से जिस तरह से सत्ता पर क़ाबिज़ हाकिम-हुक्मरानों द्वारा एक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत ऐतिहासिक तथ्यों और साक्ष्यों में सेंध मार कर सत्य के विस्थापन की कवायद के साथ भारतीय ख़ासकर युवा पीढ़ी के मानस के साथ 'कंट्रोल + ऑल्ट + डिलीट' की मुहिम को अंजाम दिया जा रहा है, वह हर सचेतन भारतीय के लिए गहरी चिंता का विषय है। ऐसे में दस्तावेज़ों में दर्ज 'समय के सत्य' को सहेजने का दायित्व प्रबुद्ध नागरिक का और बढ़ जाता है, क्षेत्र साहित्य हो या राजनीति। अमृतराय साहित्य जगत की ऐसी ही विभूति हैं जिन पर पुराने व नये तरीक़े के शोधपरक कार्य को विधिवत संग्रहीत किया जाना ज़रूरी है/था। अमृतराय के लेखन, उनकी प्रगतिशील

विचारधारा और संगठन को लेकर जो एक सदी के अंतराल की गुंजलकें थीं, उन्हें हटाने, फिर से विमर्श के केंद्र में लाने का काम बख़ूबी यह पत्रिका करती है। विशेषरूप से अमृतराय का प्रलेस, रामविलास शर्मा के साथ संबंध, 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' के बनने और उसके पीछे की कहानी जानने के लिए बेहद शानदार लेख रेखा अवस्थी व दूधनाथ सिंह का पढ़ा जाना चाहिए। दूधनाथ सिंह द्वारा लिखित लेख 'संयुक्त मोर्चे' का अपराजेय योद्धा : अमृतराय' उनकी पुस्तक 'सबको अमर देखना चाहता हूं' से आभार सहित लिया गया है। कहा जा सकता है कि यह *लमही* का अमृतराय के संदर्भ में लिखा कदाचित सर्वाधिक मानीखेज़ लेख है जिसे दूधनाथ सिंह ने जितनी आत्मीयता से सिरजा है उतने ही तटस्थ भाव से उन्होंने अमृतराय के लेखन की पड़ताल की है। साथ ही उनकी एक ज़रूरी पुस्तक की ओर संकेत भी करते चलते हैं, 'यह किताब (*विचारधारा और साहित्य*, सन 1983-84 के आसपास प्रकाशित) आज के सारे युवाओं को पढ़नी चाहिए। ख़ासकर उन लोगों को जिनकी अंग्रेज़ी बहुत अच्छी नहीं कि वे मार्क्स के 'अजनबीकरण के सिद्धांत', 'आधार और अधिरचना' जैसे सारभूत विचारों को ठीक से समझ सकें। अमृत ने अपने इन आलेखों में इन मार्क्सीय सिद्धांतों की अत्यंत सरल व सुलझी हुई व्याख्या अपनी सिद्धहस्त कलम से पेश की है। इन लेखों को पढ़ते हुए मुझे लेनिन द्वारा लिखी हुई छोटी सी किताब 'पूंजी' या एमिल बर्न्स की किताब 'मार्क्सवाद क्या है' की याद आती है। लेकिन क्या हालात हैं कि नवयुवक इस किताब का नाम भी नहीं जानते।" ऐसा ही बेहद आत्मीय लेख हरीश त्रिवेदी ने लिखा है जो अमृतराय को उनके घर व लेखन दोनों के भीतर जाकर उन्हें गहराई से समझने/समझाने की कोशिश में किया गया बेहद शानदार उपक्रम है।

अमृतराय पर उनके क़रीबियों द्वारा लिखे वे लेख जो पाठकों को गहरी आत्मीयता से सिक्त कर देते हैं उनमें सुधा चौहान, विष्णुकांत शास्त्री, हरीश त्रिवेदी, अजितकुमार, विभूति नारायण राय के लिखे लेख हैं।

अमृतराय की साहित्य जगत में जितनी भी भूमिकाएं रहीं वे सब निस्संदेह अपनी-अपनी जगह बेहद मज़बूत व मानीखेज़ हैं, पर इन सबमें उनके अनुवादक की भूमिका की जितनी सराहना की जाये, वह कम है। उन्होंने वैश्विक स्तर की उन बेहद महत्त्वपूर्ण रचनाओं का हिंदी के पाठकों के लिए अनुवाद किया जिनको पढ़े बिना साहित्य और ज्ञान की दुनिया की गहरी रिक्तता उन्हें सालती रहती। उनके द्वारा अनूदित महत्त्पूर्ण पुस्तकों की सूची में जूलियस फूचिक की, *नोट्स फ्रॉम द गैलोज* का फांसी के तख़्ते से' नाम से, निकोलाई ऑस्त्रोवस्की के उपन्यास, *हाउ द स्टील वॉज़ टैंपर्ड'* का *अग्निदीक्षा* नाम से और उन्हें जिस अनुवाद के लिए आज भी याद किया जाता है वह है हार्वड फ़ास्ट कृत *स्पार्टाकस* का हिंदी अनुवाद, *आदिविद्रोही*। *स्पार्टाकस* को विश्व उपन्यास साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अमृतराय के अनुवाद कर्म पर *लमही* में लगभग तीन लेख शामिल हैं जिनमें रमेश अनुपम का 'अनुवाद का कीमियागर : अमृतराय' नाम से लिखा लेख बेहद ग़ौरतलब है। अमृतराय की कहानियों पर बेहद गहन विश्लेष्णात्मक कार्य शंभु गुप्त ने किया है। उनके सभी सातों उपन्यासों पर अलग-अलग सात आलोचकों ने लेख लिखे हैं। ईश मधु तलवार, अनिल राय व बटरोही के संस्मरण बेहद आत्मीय बन पड़े हैं।

वस्तुत: अमृतराय के व्यक्तिव व कृतित्व के जितने भी यथासंभावित रूप हो सकते थे, *लमही*

में उन सभी पर विस्तृत व विधिवत रूप से चर्चा की गयी है। इसके लिए इसे 43 स्तंभों में विभाजित किया गया है। हालंकि कुछ स्तंभ एक ही प्रयोजन के होते हुए भी अलग-अलग नाम और जगहों में बंटे हुए हैं। जैसे उनके साक्षात्कार को ही अलग-अलग जगह तीन नामों में शामिल किया गया है, जैसे- 'रूबरू', 'मुलाक़ात', 'साक्षात्कार'। बहरहाल इन स्तंभों के लिए लगभग 53 रचनाकारों ने अपना अमूल्य अवदान दिया है। आचार्य विश्वनाथ त्रिपाठी से बातचीत शुरू होकर रेखा अवस्थी, विभूति नारायण राय, विष्णु खरे, अजित कुमार, दूधनाथ सिंह, हरीश त्रिवेदी, सुधा चौहान, विष्णुकांत शास्त्री, ईश मधु तलवार, रणजीत साहा, धनंजय वर्मा, शंभु गुप्त, शंभूनाथ, ज्ञान चतुर्वेदी, अवधेश प्रधान, नीरज खरे, अरुण होता आदि वरिष्ठ व युवा साथी शामिल हैं। बाक़ी का निर्णय सुधी पाठक *लमही* के इस अंक को पढ़कर ही बेहतर लेंगे।

मो. 9968253219

उपन्यास अंश

वचनबद्ध

(*सांप* उपन्यास का एक अंश)

रत्नकुमार सांभरिया

यह उपन्यास सन् 1972 से पूर्व प्रारंभ होता है

गाड़ी का हॉर्न बजा।

हॉर्न!

लखीनाथ इस वक़्त तक कुंडी लगाकर सो जाया करता। आज सांकल तक नहीं लगी थी। लखीनाथ का लगातार बाहर-भीतर, आना-जाना, रमतीबाई को मानो उसके भीतर के चौकीदार ने 'जागते रहो' की आवाज़ लगा दी थी।

हॉर्न सुनकर लखीनाथ का रोआं-रोआं उठ खड़ा हुआ। परीक्षा की घड़ी। रहज़नी का वक़्त। हृदयहीनता का समय। बेवफ़ाई का टेम। चिराग़ चुराने का क्षण। वचन की कसौटी। भय, चिंता, निराशा और हताशा के चौकोर जाल में वह बुरी तरह फंसा था। न केवल फंसा, कसता गया। सपेरा! सांसों की ठठरी!

लखीनाथ! पिता! सौदागर! डाकू! चोर! बघेर! भेड़िया!

निशीथ। तारोंभरी रात थी। शुक्ल पक्ष की अष्टमी का चांद क्षितिज पर इस तरह लटका था, सुभद्रा ने गले में मंगल-सूत्र पहना हो। वह बदहवास हुआ छत पर चला गया था। सामने सड़क की ओर देखा। लाइट मारती गाड़ी देखी। वह माथा पकड़े छत से उतरा और फिर अंदर जा लेटा था।

मिलनदेवी गाड़ी के पास खड़ी उसकी राह देखे जाती थी। जी तिलमिलाया था। सड़क सूनी सपाट थी। बस्ती में न दीया, न बाती। गहरी नींद सोई थी। चिड़ी के बच्चे तक की चीं नहीं। चांद जा रहा था।

मिलन फिर गाड़ी में बैठ गयी थी। लखीनाथ की वादाख़िलाफ़ी ज़ाहिर थी। चिंता के मारे उसका जी छूट रहा था। घड़ी-घड़ी घड़ी देखती। तारोंभरा नभ निहारती। नीले गगन में झिलमिला रहे तारे नवोढ़ा की चुनरी पर जड़े सितारों से चमक रहे थे।

वह अगल-बग़ल निगाह मारती। क्षण-क्षण। पल-पल। जी उठा जाता। निराशाओं और दुश्चिंताओं के झोंके आते, उसके अंतस के पट भड़भड़ा कर खुलते, बंद होते। ख़ुद, ख़ुद को कोसे जाती। बावरी मिलन, छदम को यहीं फेंक दें और लौट पड़ अपनी कोठी की ओर। ख़्वाबों के महल हवा में उड़ा करते हैं।

उसमें दुर्भाव पैदा हुआ, 'घुमंतू हैं। डेरे उठते-पड़ते रहे हैं। समाज के सताये, पुलिस के हड़काये हैं। झूठ और फ़रेब जीवन हो गया। कायर प्रवृति जीवनयापन रही। सपेरे के यक़ीन ख़ुद से दग़ा हुआ। गोद की भूखी ने हवेली की शोहरत और स्वयं की आबरू को बट्टा लगा लिया।' उसके अंत:करण में भट्टी का भभका-सा उठा। हॉर्न मारा।

लखीनाथ खाट पर लेटा था। उसके फिकर का फंदा फांसी के फंदे से कहीं निकट और डरावना हुआ जाता था।

रमतीबाई अधसोयी थी। बांह समेट कर बच्चे को छाती से ऐसे चिपकाये थी, बंदरिया चिपकाये रहती है, अपने बच्चे को।

हॉर्न फिर बजा।

हॉर्न! मिलनदेवी की क्रोधभरी नाराज़गी की गूंज लखीनाथ के कानों टकरायी।

सेंधमार गड़ी-गड़ी नज़र जगह चाकता है, बगुला मीन को टकटकी बांध कर देखता है, बाज चिड़िया को खोजता है, दीये की टिमटिमाती लौ में उसने मां-बेटे को टकटकाया।

वह चोर चुप उठा। रमती की छाती से, रमती की बांहों से, रमती की चाम से बच्चे को धीरे से खींचा और अपने अंगोछे में लपेट लिया था।

रमती भड़भड़ा कर उठ बैठी थी। बच्चा ग़ायब देखकर उसकी कातर चीख़ निकली। वह उठे। पीछा कर चोर को रंग हाथों पकड़े, लखीनाथ बाहर निकल आया और किवाड़ बाहर से बंद कर दिये थे। रमती ढाढ़ें मार कर गाय-सी डकर उठी। उसने किवाड़ों के रंध्र से देखा और आर्त्त कंठ ललकार उठी - 'मेरा सेरू.... !' वह नीचे गिर पड़ी थी।

अनहोनी, ख़तरा या मौत की आहट श्वानों तक पहले पहुंच जाया करती है। कुत्ता चौक में लेटा था। लखीनाथ का बार-बार अंदर-बाहर होना, उसके भीतर संशय पैदा होता गया।

शेरू नाम का वह श्वान रमतीबाई के साथ दान दिया आया था। इन दिनों अधेड़ हो चला था, पर जोश गबरू-सा बरक़रार था। उसके साथ लखीनाथ का बेवहार पालतू जैसा और रमतीबाई का टाबर जैसा था। जिस दिन रमती को बच्चा हुआ, कुत्ते ने बस्ती की पहरेदारी सरकीबाई मदारिन के चीपू तथा दूसरे साथियों पर छोड़ दी और ख़ुद घर पर ही बना रहता।

बच्चे को सीने से लगाकर चोर की तरह भाग रहे लखीनाथ सपेरा के सामने शेरू आ अड़ा। उसे गेट से पहले रोक लिया। भों-भों करता, ज़मीन पर पंजे मार-मार दाढ़ें बताने लगा। लखीनाथ ने उसकी ओर आंखें निकालीं और तेज़ी से गेट की ओर बढ़ा। श्वान को बुरा चुभा। यह न केवल उसके वजूद को ही चुनौती थी, बल्कि उसकी वफ़ादारी पर लानत भी। उसने आगे बढ़ कर उसका पाजामा पकड़ लिया। लखीनाथ उसे लातें मारता रहा, कुत्ता लातें खाता रहा। वह गेट से बाहर निकलने के लिए ज़ोर आजमाइश करता रहा, कुत्ता उसका पाजामा पकड़े डटा रहा। अंगद का पैर हिले, शेरू टस से मस हो।

रमती की रुलाई आ रही थी। लखीनाथ में टाबर सौंपने की छटपटाहट थी। घर का कूकरा कबाब में हड्डी बन बैठा। कुत्ते की अड़ देख कर वह ऐसे दांत पीसने लगा था, लोहा चबा रहा हो, घरड़-घरड़।

सपेरा हाथ आये चोर-सा लाचार। श्वान सिपाही-सा मुस्तैद। म्हारी बिलाई! हमी ने मियाऊं। 'हाथों पाला कूकरा इतना काठ-कठोर, ' उसे सपने में भी ख़याल नहीं था।

श्वान देहरी का ऋणी था। उसके लिए चोर, चोर था। चोर चाहे घर का हो, चाहे बाहर का हो।'

हॉर्न फिर बजा। लखीनाथ का दिल फटा। उसने बच्चे को सीने से चिपकाया। ईंट उठायी, दम

भरा और कुत्ते पर तान कर मारी। शिकारी श्वान था। तारों का प्रकाश था। ईंट आती देख कुत्ते ने गुलाटी मारी। ईंट उसके सिर से टकरायी और धरती पर लग कर दो हो गयी थी।

सांड़ टांग टूटने पर इतना लाचार नहीं होता, जितना सींग टूटने पर। श्वान सिर फूटने पर इतना लाचार नहीं होता, जितना दांत टूटने पर। वफ़ादार बने रहना श्वान की फ़ितरत थी। उसने फिर दांत निपोरे।

शिशु ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा था। तारे सहम गये। आकाश सदमाया। पृथ्वी की आंखें गीली हो आयीं। रात्रि की निद्रा उड़ गयी और बेचैन हो उठी।

अंदर से किवाड़ पीटने और रोने की आवाज़ें बराबर आती रहीं। लखीनाथ में उतावली भरती गयी। वह खौल उठा था। उसने बच्चे को नीचे रख दिया और लाठी उठा ली। कुत्ते का साहस क़तई क्षीण नहीं हुआ। चोटिल होने के बावजूद वह दाढ़ें काढ़-काढ़ बराबर डटा रहा, जैसे जान हथेली पर ले ली हो।

वह रुंधे कंठ रोये जा रहे बच्चे को पैरों के बीच लेकर खड़ा हो गया। लाठी उठाये खड़े लखीनाथ को एकाएक अक़्ल आयी। दाढ़ की वह अक़्ल बड़ी सूझ लिये थे। अगर उसने कुत्ते पर लाठी छोड़ दी, वह किकिया-किकिया बस्ती के कुत्तों की जमात बुला लेगा। पासा उल्टा पड़ जायेगा। सरकीबाई का चीपू तो इतना शातिर है, उसने थानेदार को चांद के नीचे कच्छे में खड़ा रखा था, रात भर।

लखीनाथ ने बिल-बांबी, झाड़-जंगल, नींव-नाले, आती-जाती, राह-रास्ते ख़तरनाक से ख़तरनाक, विषैले-से विषैले, फणैले से फणैले नाग पकड़ कर क़ाबू किये थे। घर के कुत्ते के सामने बेक़ाबू था। लाचार। निरा। वह क़सूरवार की तरह उसके सामने नीचे बैठ गया और गुहार की, 'सेरू ग़लती हुई। परे हट। ल्या, टाबर ने मायने सुवाउं, रमती के पास।'

लखीनाथ ने बच्चा उठा लिया और जाकर दरवाज़ा खोला। शेरू देहरी तक साथ रहा, उसके।

रमती बेसुध हुई जाती थी। उसके पास बैठा लड़का रो रहा था । लखीनाथ ने बच्चे को खाट पर सुला दिया। बच्चा कुलबुलाया, रोया और चुप हो गया था।

विवशता की फांस। संत्रास की सरकफांसी। लखीनाथ के गले का फंदा जैसे कसता जाता था।

मिलन! रेत पर पड़ी मीन। तड़पते तन-मन। सत खिंचा-खिंचा। सांस गयी-गयी। आबरू उड़ी-उड़ी। उसका अंत:करण छलनी हुआ जाता। घर परिवार, मित्र-मंडली, दफ़्तर-क्लब, यारी रिश्तेदारी अड़ोस-पड़ोस अंजुलि भर-भर बधाइयां बटोरीं। बरसात की तेज़ बौछारों की भांति आशीशों की झड़ी रही। शुभकामनाओं से सराबोर हुई। आने-जाने वालों के द्वारा लाये गये खेल-खिलौनों से घर अट गया।

हॉस्पिटल में डिलीवरी की तारीख़ निश्चित है। कहां मुंह लुकाये? कहां ख़ुद को छुपाये? देशाटन करे या आत्मघात? डूबते को तिनके का सहारा जैसा भाव लिये उसने फिर हॉर्न बजाया।

हॉर्न की आवाज़ लखीनाथ के कानों में पिघलते सीसे जैसी उतरती गयी। कर्ण बहरे। मग़ज़ सुन्न। नाग ने डस लिया हो। काया में बिस पुरता जा रहा हो। उसे इतना होश नहीं देहरी पर बेसुध-सी पड़ी रमती को खाट पर सुला दे। वह बाहर निकला। चारदीवारी का गेट खोला और वेगभरे क़दमों सड़क की ओर बढ़ गया।

निराशा में आकंठ डूबी मिलनदेवी लौटने के लिए गाड़ी घुमा रही थी। वह लपक कर आगे बढ़ा, 'सेठाणी!' मानो उसमें कुछेक सांसें शेष हैं और एक अर्ज़ लिये यहां पहुंचा है।

गाड़ी रुक गयी थी।

तारों की टिमटिम और गाड़ी की मद्धिम रोशनी में मिलन ने उसकी ओर ऐसे देखा, बेवजूद। नुगरा। वचनहंता। दूसरे की आबरू को कलम कर देने वाला कसाई। दांत किटकिटा कर 'हुं' कही।

'हुं।' दुत्कार, फटकार, लानत, मलानत ।

लखीनाथ की ज़बान तालू से ऐसे चिपकी थी, एकमेक हो। जीभ की लड़खड़ाहट और गले की कंपन रोकते बोला,'आप चाल्यो।' उसके शेष शब्द होंठों से निकलते बेजान हुए।

लखीनाथ बुरा घबराया था। मिलनदेवी बेतहाशा सदमायी थी। रात मानो भयावह हुई ग्रस जाने को थी। सन्नाटा नीलता जाता था। गाड़ी में पीछे की सीट पर चांदी की बोतल में दूध लिये बैठे सेठ मुकुंददास वक़्त का सिरा नहीं पकड़ पा रहे थे। ठोड़ी हथेली पर टिकाये आत्म-कलेश में डूबे थे। ऐसे त्रास का सामना वे पहली बार कर रहे थे। मिलन पर आग बबूला होकर भी अपनी कमी चुप थे। त्रासद नियति।

मिलनदेवी विचारती रही, सद्यःप्रसूता से उसका बच्चा लेना, नाहर के मुंह से उसका दांत खींचना है। चिड़ी तक चोंच उठा लेती है। बिल्ली मरना मांड देती है। बंदरिया ख़ूंखार हो जाती है। बाघिन लहू पीने को उद्यत होती है। कृत्य न केवल दुष्कर है, बल्कि अविश्वसीय और असंभव। वह सोच-विचार के व्यूह में पड़ गयी । विचारते-विचारते निथर कर ऊपर आयी। मरता क्या नहीं करता। सोचने लगी। दिवास्वप्न। हवाई क़िला। मौत का वरण।

इतना सहा, यह भी सही। शायद अबला की गुहार रमती पसीज जाये। उसने गाड़ी का गेट खोल दिया। साहस बटोरा। आत्मबल सहेजा। सीट थपक कर जिजीविषा से बोली-'बैठ लखीनाथ।'

उसने अपराधबोध से कांपते-धूजते अपने बदन को डाटा और सीट पर बैठ गया था। वह अनिश्चितता को लेकर इतना व्याकुल था, सांस तक लेना दूभर हो रहा था, उसका।

गाड़ी उसके गेट के बाहर जा कर खड़ी हो गयी थी। लखीनाथ ने गाड़ी का गेट खोला और नीचे उतरा। मिलन और लखीनाथ दोनों अंदर आ गये थे। सेठ मुकुंददास अपने आपको डाटे गाड़ी में ही बैठे रहे। असमंजस। चिंता घिरे। बिन आयी आफ़त ओढ़े। हां, वे पलकें उठा-उठा आश्चर्यचकित ज़रूर थे, यह वही जगह है, जहां कभी डेरे पड़े थे। बिखरे-बिखरे, उजड़े-उजड़े, उठाऊ-उठाऊ?

रमतीबाई चौखट पर बेहोश हुई पड़ी थी। रमतीबाई के मुंह पर पानी के छींटे मारे। छींटों की ठंड से उसमें चेतना लौटी। मुंह हिलाया और खुलतीं आंखें टिमटिमायीं। होश आया कि ख़ुद उठ बैठी। आंसू उसकी आंखें की कोर पर झूल गये और दोनों हाथ फैला दिये। लखीनाथ ने खाट से बच्चा उठाया और उसके फैले हाथों थमा दिया था। उसने बच्चा आंचल से लगा लिया और दूध पिलाने लगी। हाथ शिशु के सिर पर था। लखीनाथ ने उसके पैर पकड़ लिये, गुनाह की माफी मांगता हो।

देहरी के बाहर खड़ी मिलनदेवी थोड़ा आगे बढ़ आयी। उसने रमतीबाई के पैर तो नहीं पकड़े, याचक की भांति उसकी ओर अपलक निहारती रही। उससे दीन, उससे दुःखी, उससे गरजी और दया का पात्र दुनिया में दूसरा नहीं है। एकाएक उसमें वेदना का मेघ उमड़ा और नयननीर बहने लगा था।

रमतीबाई ने दीये की लौ में उसकी ओर देखा।

उसने बहती नदियां देखी थीं। उफनते नाले देखे थे। कलकल करते झरने देखे थे। सोंटा का बरसता मेह देखा था। उमड़-उमड़ बरसती दो आंखें आज देख रही थी। आठ-आठ आंसू रोती मिलन की आंखों में आरजू दिपदिपाती रही, मानो रमती साक्षात देवी हो और वह उससे वरदान मांगती हो। उसने साहस बटोरा और सुबकते-सुबकते, बिसूरते-बिसूरते, सिसकियां-सिसकियां थरथराते होंठों रमती को समूचे घटनाक्रम से अवगत करा दिया था।

लखीनाथ उसके पैर पकड़े बैठा रहा, बुत-सा। ना उसके कान। ना उसके नेत्र। ना दूसरी ज्ञानेंद्रियां।

मिलन ने जब रमती को उसका अपना वादा और लखीनाथ का वचन बताया तो उसने बच्चे को ऐसे चिपका लिया, बंदरिया अपने शिशु को चिपकाना सीखे। कोख जाया नहीं, चाम-जुड़ा हो, कोर -कारजा हो, शिराओं में बहता लहू हो, सांस हो उसकी। वह बाघिन-सी ख़ूंखार हो उठी । आंखें ऐसे जलने लगीं, भस्म कर देगी। 'नाथ जी अपनी मूंछ का बाल के बदला में मेरो हियो बेच देतो। चीर के राजी-राजी इकी हथेली पे धर देती। मेरी कोख को सोदौ। मेरा लाल को सोदौ।' उसने लखीनाथ की छाती में ऐसे सिर मारा जैसे आक्रोश का भरा बम फटा हो।

मिलनदेवी मैक्सी पहने थी। उसने मैक्सी उठायी। पेट बंधा ठठर[2] उसके सामने पटक दिया। ख़ुद को थामती कहने लगी, 'रमतीबाई छह महीने हो गये हैं, मैं पल-पल सूली की सेज-सी काट रही हूं। इस छद्म को कैसे जीऊं। मेरा दिल जानता है। मेरा मन जानता है। मेरा तन जानता है।'

मिलन के दुःख के सामने रमतीबाई अपनी व्यथा भूल गयी और उसकी वेदना से जुड़ गयी। मिलनदेवी आस बांध कर उसके पैरों में बैठ गयी। उसके नेत्रों से बहती अश्रुधाराएं कपोलों और चिबुक से होतीं टप-टप नीचे टपकने लगी थीं। रमती के गोड़े पकड़ लिये और दबाते हुए बोली, 'मरद की कमतरी क़तई ना उम्मीद हूं, मैं। जीवन सन्नाटा है, रमती। जैसी जन्मी थी, वैसा की वैसी हूं, मैं। काया काग़ज़ जैसी कोरी है। तुम लोग मौत से जूझते रहे हो, मैं अपने आप से मरती रही हूं।'

पान से पतले उसके होंठ थिर गये। लंबी-लंबी दो-तीन सांसें सहेजीं और फिर बोली, 'मेरी आबरू की बंधी गठरी खुल जायेगी।'

नदी के बहाव की भांति मिलन के हृदय ने झाल मारी मानो उसके रोम-रोम पीड़ा भरी हो और आंखों के कोर बही जाती हो। टपकतीं पलकें पोंछ कर बोली, 'मैं पिछले चार महीनों से अपनी सहेली के पास दिल्ली रह रही थी। दो दिन पहले ही आयी हूं और घर से बाहर आज रात निकली हूं। सेठ जी बंजारा के संपर्क से आपके बच्चा होने की ख़बर रख रहे थे।'

वह बिसूरन भरी हिचकी लेकर बोली, 'रमती आज महीने का दूसरा रोज़ है मुझे और हॉस्पिटल के जच्चाघर में भर्ती हूं, मैं।'

रमती हतप्रभ। अवाक। आंखें फटीं-फटीं। कलेजा उठा-उठा।

मिलन झोली फैलाकर कहने लगी, 'असहाय नारी की लाज रख लो, रमती। तेरी कोख तो फिर फल जायेगी, मेरे पास जान गंवाने के सिवाय चारा शेष नहीं बचेगा।' उसका हृदय क्रंदन कर उठा। गाल, ओठ, नयन थरथराते रहे।

रमती के भीतरले में लखीनाथ के धोखा और वचन की लपटें नागिन की दोहरी जीभ-सी लपलपा रही थीं। लपटों पर अकस्मात ओसकण गिरने लगे। डाह की नागिन ने जीभ समेट कर कुंडली मार ली और करुणा का सोता फूट पड़ा था।

वह सोचने लगी, 'सपेरे की मूंछ को बाल जात की मरजात होवै। सोना की खदान से भी घणी कीमत होवै, उकी।'

धधकता लावा विस्फोट के साथ धरती फाड़ कर बाहर आता है। आकाश से गिरी बिजली भूमि में दरार ला देती है। रमती की देह में लावा-सा खदबदाया, बिजली-सी कौंधी और सारा क्रोध हाथ में आ सिमटा था। उसने उसका पैर पकड़े बैठे लखीनाथ के गाल पर खींच कर थप्पड़ मारा। तमातमाते हुए उसकी ओर ऐसे दांत पीसने लगी, कंकड़ दल रही हो। मुंह थुथाकर बोली, 'दगी[3] मेरा से इतनो ओलो[4] राख्यौ।'

जैसे बिजली धरती पर पड़ी हो और उसके ऊबड़-खाबड़ ने सतह को नील दिया हो। लखीनाथ के गाल पर रमती की पांचों अंगुलियां उपट गयी थीं। लखीनाथ, मानो चरखी का चरबा। सत रती-मासा नहीं रहा, शरीर में। छुपाव, षड्यंत्र, डकैती ।

हालांकि लखीनाथ की यह मंशा क़तई नहीं थी कि वह अपने वचन के निभाव मिलनदेवी को चुपके-चुपके बच्चा सुपुर्द कर दे और रमती से लुकाव रखे। वह बच्चा सौंपने के बाद क्षमायाचना के साथ उसे समूची घटना बताना चाहता था। वह डेरा बस्ती के हित वचनबद्ध हुआ। मिलनदेवी ने अपना वादा पूरा किया। वह अपना वचन पूगे। कुत्ते की गुस्ताख़ी खेल बिगड़ गया।

मिलनदेवी बुरी घबरायी। सर्वांग धूजने लगा। दूसरा थप्पड़ उसके गाल पर पड़े, भाग खड़ी हो, यहां से। गाड़ी में बैठ और अपने घर की राह पकड़। स्वप्नजीवी कहीं की।

रमतीबाई ज़ोर-ज़ोर से सांस ले रही थी। कष्टों का सैलाब फूट रहा हो, धरती-आसमान का अंतर नप रहा हो, छाती में पत्थर ठोक रही हो। उसकी चढ़ी सांसें रुकीं और आंखों को छोटी-छोटी करके धीर गंभीर हुई, 'इ बीरबानी ने म्हारो आदमी जेलखाना से छुड़ायो। नहीं तो जेल में पड्यो रहतौ। टाबर के होतो। मेरो तो दूसरो टाबर है, यो। और होवै, चाहे ना होवै। एक आंख से दुनिया दीखै। म्हारी बसती भी तो जग कर दी, इनै।' रमती पसीजती धरा।

मिलनदेवी का गाल थपक कर उसके आंसू पोंछते हुए बोली, 'सिठाणी, छोटो आदमी बड़ा की आबरू को घणो खियाल करै। बड़ो आदमी छोटा की आबरू ने जूती बरोबर ना समझे। जीव-जिनावरां की नाई टाबरां को सोदो सपटो ना हुवै। पर मेरा धणी[5] को दियो बाल[6] अटल है। उनै निभाउं। जनानी टाबर कैसे पैदा करे उको भीतरलो जाणै। यो टाबर ना, कारजो है मेरो। इनै ले जा, पर दो बात गांठ बांधे रखियो।'

मिलन! डूबते को पानी से बाहर निकाल लिया हो। आग से घिरे को बचा लिया हो। टूटती सांस ऑक्सीजन मिल गयी हो। उसकी सांसें फिर चलने लगी थीं। सचेत हुई। 'हुं' कहीं। रमती बच्चे के कारजे पर हाथ रख कर ताक़ीद-सी करती बोली, 'यो सपेरो है। सपेरो ही रहण दियो इनै। कानां में कुंडल पहनेगौ। नाम नाथ रहवोगौ इकौ।'

वियोग का भाव, वह टाबर का माथा, ओठ, सिर, हाथ चूमने लगी थी, एक सांस। उसकी उठीं आंखें मिलन की काया में उतरती चली गयीं और उसने बच्चा मिलनदेवी की फैली झोली में डाल दिया था, दया-सा। जीवनदान।

मिलनदेवी ने बच्चे को अपनी छाती से लगा लिया था, ममता-सा। वह रमती की सहृदयता की इतनी कायल थी, उसके चरणों को ओठों से चूम ले। उसके नयनों में डूब कर ख़ुद खो दे। बोली, 'रमती मैं भी वचनबद्ध हूं। वंश भले हमारा चले, अंश सपेरा रहेगा। कानों में स्वर्ण कुंडल पहनेगा और नाम कल्याणनाथ सेठ होगा। यानी सबके हित की बात करने वाला। मैंने लखीनाथ को अपनी कोठी दिखा दी है। जी उठे चली आना, पंद्रह दिन बाद।'

एकाएक मिलन के मन में एक और शंका शंकू सरीखी उठ आयी। बोली, 'रमती तुम मेरी बहन जैसी हो, अब। इज़्ज़त रखना, कभी कोर्ट कचहरी हो।'

रमती ने हड़क दी, 'सेठाणी, सपेरा की मूंछ को बाल अर सपेरन की जबान से बड़ी ना हौवै, कोट कचेरी।'

मिलनदेवी को अपना नवजात सौंपने के बाद रमती मानो जच्चा ही नहीं रह गयी थी। वह झट उठी और खाट पर चढ़ गयी। टांड पर रखा थैला खींचा। उसमें से छोटी सी पोटली निकाली। उसमें वही तीन चीजें - साड़ी, चांदी का रुपया और सौ का नोट थे। बोली, 'थारी ये तीन चीज बसत म्हारी छाती पे बोझ है, ले जा अपणी।'

बाढ़ आने पर सूखी धरती इतनी निहाल नहीं होती, जितनी रमती के दया सागर से निस्संतान मिलन लबरेज थी। मिलन ने एक साथ से बच्चे को छाती से चिपकाया और दूसरे हाथ से उसने रमती की पकड़ायी पोटली और छद्म उठा लिया। वह देहरी से बाहर आ गयी थी। ख़ुशी के मारे इतनी गद्गद हुई जाती, उसकी गोदी में शिशु नहीं, उसका जीवनाधार हो।

लखीनाथ उसे गाड़ी तक छोड़ने जाने लगा। रमतीबाई ने आंखें बता दी, 'ना नाथ ना।'

रमती की हड़क, उसके पैर वहीं ठिठक गये। ख़ुद की काया सिमटता चला गया।

बाहर बैठे शेरू ने मानो सब सुन-समझ लिया था। औपचारिकतावश उसने चौक से बाहर निकलती मिलनदेवी की ओर छोटी-सी भूंक की। भूंक मानो उसकी वेदना का सोता थी।

'ना सेरू ना।' रमती की रुंधी-सी आवाज़ उसके कानों में पड़ी। श्वान की वियोग झपझपातीं आंखों से दो सर्द आंसू झूले और उसके पंजों पर गिर पड़े थे।

मिलनदेवी बच्चे को लेकर गेट से बाहर निकल आयी थी। रमती छाती में पत्थर ठोक कर खाट पर लेट गयी थी। लखीनाथ सन्न खड़ा रहा।

गाड़ी की लाइट ऑफ़ थी। सेठ मुकुंददास गाड़ी की पिछली सीट पर ऐसे बैठे थे, मानो अंधेरी गुफा में बैठे हों। चिंता और भय उनको झकझोरे जाते थे, घुमंतुओं की बस्ती है, बच्चे ले जाने जैसा अपराध है। मिलन ने गाड़ी की सीट पर लबादा और पोटली पटक उनको बच्चा पकड़ा दिया था। सेठजी को अलौकिक-सा प्रतीत हुआ, उनके हाथों में बच्चा नहीं, दुनिया का आठवां आश्चर्य है। बच्चा कुलबुलाया और मीह कंठ किलकारने लगा था।

मिलन ने बच्चे को अपनी गोदी में ले लिया। वह बराबर वाली सीट पर बैठ गयी और उसे

बोतल से दूध पिलाने लगी थी। सेठ मुकुंददास ड्राइवर सीट पर बैठे।

गाड़ी स्टार्ट हुई कि रमतीबाई का मग़ज़ सरका। वह लपक कर घर से बाहर निकली। राह में आयी और गाड़ी के आगे आ अड़ी थी। मिलन के शरीर का सत-सा निकला। बच्चे को कुंडल पहनाने और नाथ नामकरण का वचन लेकर ख़ुशी-ख़ुशी बच्चा सौंपने के बावजूद रमती किस फ़ितूर अड़ी? उसने घबराहट थामते गाड़ी का गेट खोला। बच्चे को बोतल से दूध पिलाती बाहर निकली।

रमतीबाई ने बच्चा उससे ले लिया। मिलन के हाथों बोतल रह गयी थी। धरती में दरार पड़ने जैसा प्रलयंकारी मंज़र देख कर सेठ मुकुंददास भी गाड़ी से बाहर निकल आये थे।

पति-पत्नी का जी नूह में जा समाया था। प्राण सूखे जाते थे। आंखें पथरा गयी थीं। आकाश नापने को अमादा पंखेरुओं के पंख सहसा सिमट गये और वे धरा पर आ गिरे थे।

मिलन बदहवास की भांति रमती की ओर देखे जाती थी। उसकी सांसें कहीं अटकी थीं। 'बच्चे के वियोग सपेरन पगला गयी है।'

बच्चा मिलन की गोदी में कुलबुलाये जाता था। रो-रो सुबकता था। बोतल की निप्पल मुंह में लेकर बेमन दूध पीता था। मां के आंचल की गंध पाते ही वह रमती की छाती से चिपक गया और उसकी चाम में छुपा जाता था। रमतीबाई बच्चे को स्तन पिलाने लगी थी।

लखीनाथ आ खड़ा हुआ था। उबलते दूध में छाछ के छींटे जैसी अनहोनी पर वह बुरी तरह घबराया था। सूझ नहीं पा रहा था। क्या बोले? क्या कहे? क्या करे? रमती के नीड़े खड़ा शेरू सूं-सूं-सूं किये जाता था।

रमतीबाई ने शिशु के सिर पर हाथ रखा और मिलन की आंखों में झांक कर बोली, 'सेठाणी जी कती ना घबराओ। बात वो कि वो है।'

'तो?' सेठजी ने उसांस छोड़ी।

रमती ने बच्चे का मुंह चूमा और सेठ जी की ओर निगाह की 'सेठ जी, रात फाड़ के देणौ धाड़ौ कहावै। रोलो रुक्को पड़ जावै। हाथी जिसी बात बाती में ना छुपा करे। टाबर ने चोरी छुपे ना, बसती माता के सामै चौड़ा मैं दूंगी, दिन में। म्हारौ दियौ अर थारो लियौ दिखै। आवौ बेठ्यौ।'

इतना कह कर वह शिशु को लिये कमरे में आ गयी थी। श्वान साथ-साथ था। लखीनाथ कुछ देर खड़ा रहा और फिर 'सेठजी आओ', कह कर चला आया था।

सेठ मुकुंददास और मिलन देवी ऊहापोह की अंधेरी सुरंग में खड़े रह गये थे, जैसे। हाथ से लोटा छीन कर प्यास बुझाने का रमती का यक़ीन आश्रय भर था। वे दोनों गाड़ी में बैठ गये थे। ख़ुद को मसोसते, वक़्त को कोसते थे। उनके अंतस में तूफ़ान उठा था। झंझावात के साथ भयावह होते भूचाल की दो शिखाएं थीं। चिंता और शंका। पानी भीगा शीतल झोंका आता और उनमें उम्मीद जगा देता था, 'सपेरन की बात क़ायदे की है।'

न सेठ जी मिलन से रू-ब-रू हो पा रहे थे। न मिलन उनसे कुछ कह पा रही थी। दस बरस की उनकी सह ज़िंदगी में फ़िक्र का ऐसा सन्नाटा नहीं बरपा था।

तारे मिट रहे थे। फूटते भोर अरुणिमा अवनि पर उतर रही थी। उजियारा होते बस्ती जागने लगी। लोग-बाग बोतलें या लोटे हाथों में थामे खेतों की ओर जा रहे थे।

वे गाड़ी के पास से गुज़रते। देखते। स्वाभाविक लगता। 'वो ही सहरवाली बहण जी हैं, जिनै बस्ती बसायी। लखीनाथ के आवै-जावै। बड़ा मिनख को अपणौ मन होवै। मरदबीर सुबै सकारे सैर-सपाटा निकल्या अर बसती आ गया।'

रमती की बात। लखीनाथ ने घर-घर जा कर उसके चौक में भेला होना न्योत दिया था। किसी को यह पूछने का अवकाश नहीं दिया, क्या बात है? धूनाराम और सपरानाथ को उसके खट्टे स्वभाव के कारण नहीं बुलाया गया था।

स्त्री-पुरुष आते गये। आंगन की खुरेड़ी पड़ी धरती पर बैठते गये। सीकाराम और समोतर आये। घीघा-मीघा आये। सहादीन बहुरूपिया, सकरादास, खगराराम ,भलीराम, करमदीन, अजब खां आये। वेदानाथ, महावीरानाथ, रमियानाथ, समरानाथ आये और बैठते गये। किसी ने मुंह धोया, किसी ने कुल्ला किया था। वे निगाह-निगाह एक दूसरे की ओर देखे जाते थे। कनखियां करते थे। कान-मुंह जुड़ते थे। क्यों बुलाया? क्यों आये? उत्तर किसी के पास नहीं था।

रोशनीबाई, जूनाबाई, रूपीबाई, गुलाबी, सरकीबाई, समेत अन्य महिलाएं रमतीबाई के इर्द-गिर्द दूसरी ओर बैठ गयी थीं। उनके चेहरों पर भी अबूझ जिज्ञासा थी। सवाल बराबर था।

बुज़ुर्ग चीमाराम को लखीनाथ ख़ुद पकड़े-पकड़े लाया। मनीराम साथ था। बुढ़ऊ ने पहले तो अपनी लाठी नीचे पटकी और फिर गोड़ों पर हाथ रख कर सांसता-खांसता नीचे बैठ गया था।

लखीनाथ ने दो कुर्सियां ला कर रख दी थीं। सेठ-सेठाणी बैठ्येगा।'

लखीनाथ गली तक गया। पति-पत्नी गाड़ी में बैठे थे। मन बुझे। तन खोये। रमती की बात की लौ सांसें चलती थीं। वह उन्हें अंदर बुला लाया। दोनों कुर्सी पर डरे-डरे, सहमे-सहमे बैठे। ख़ानाबदोशों की पंचायत अलग से भय भरे थी।

बूढ़े ने सबके बीच खड़े लखीनाथ की ओर देख कर हाथ का इशारा किया, 'लखी कह।'

लखीनाथ ने मुंह पर हाथ फेरा। माथे पर हाथ फेरा। आंखों पर हाथ फेरा। पंचायत की काण, कंधे पर पड़ा गमछा सिर ढक लिया था। उसने भावुकता से भर आया गला सूता। हाथ जोड़े और योग टिमटिमाते नेत्रों सबकी ओर एक नज़र लखा।

कुर्सियों पर याचक की भांति गुमसुम बैठे सेठ दंपति की ओर निहारते उसकी आंखों में विभोर उतर आया था। शब्द निकलते होंठ हिलने लगे थे। दिल की झाल डाट कर वह कहने लगा, 'सेठ जी अर सेठाणी जी इ धरती पे भगवान से भी घणा बड़ा है। भगवान नाम को होवै, काम ना आवै। सेठाणी ने डेरा की काया बदल दी। हांडता-फिरता, गाम-गली नापता को पक्को ठियौ करवा दियौ। तेंतीस किरोड़ देवी-देवता मिल के भी वो ना कर पाता, इकेली ने कर दिखायौ।'

'हूं।' बस्ती ने समवेत स्वर में हां कही। मिलन ने उसकी ओर खुली आंखों देखा। सेठजी के नेत्र बूझते रहे।

लखीनाथ ने आंखों की कोर पोंछ कर कहा, 'बसती माता खूब जाणै। दुसट थाणेदार ने लुटेरा कैदखाना से छोड़ दिया। उनकी भरती मैं अर भलीराम जेल में पटक दिया था। सेठाणी जी ना छुड़ाती

जेल में पड्या सड़ता। मगर का जाबड़ा तले आयी बकरी की नाई में-में-में मिमियाता रह जाता। थाणेदार ने मेरा पैर मैं गोली दाग दी। सेठाणी जी दवाखाना ले गयी। ख़ुद का टका-पीसा इलाज करवायौ। दवाई दिवाई।'

'हुं।' बस्ती ने सुखद हुंकार भरी। मिलन उसकी ओर डूब कर देखती रही। बच्चे को स्तन पिलाती रमती की नज़रें उसकी ओर थीं।

वह कहता गया, ' इनै म्हारा डेरा को सरवो कर्यौ। फायल मंतरी तक भिजवायी। मंतरी ने फायल पटक ली तो पूरी बसती ने जीव-जीनावरां के लार मुखमंतरी के बंगले ले गयी। इनने अपनी बात कही। हमने अपनी बात कही। मुखमंतरी बेचारो भलो माणस। म्हारी सुण ली। डेरा की जगा बसती बसा दी। सकूल बण गयौ। देर-सबेर पाणी की बेवसता भी हो जावैगी।'

बस्ती ने उसकी ओर एक सांस देखा। सेठ-सेठानी ने कर्ण जैसी नज़रों निहारा, 'चुटकी भर बात है।'

उसने कंठ खखरा और कहता गया, 'पर कुदरत को रंग-ढंग निरालौ हुवै। सेठ-सेठाणी बिन आस-औलाद रह गया। बसती के वासते कर्यौ काम देख के मेने बचन दे दियौ। थम डेरा से बसती बसावण को काम पूरा करो। मैं टाबर की थारी उमीद पूगूं। भली ने कर दिखायौ। सपेरो अपणो बचन घरे घाले।'

बस्ती लखीनाथ की ओर आंखें फाड़-फाड़, मुंह खोल कर देखती रही। एकबारगी तो मानो सांसें सरक गयी थीं, बस्ती की। दुःख, दर्द और दरिद्रता के दरिया में छटपटाते रहे डेरे आज आवासीय बस्ती के रूप में आबाद थे और सुख-सुकून तथा ख़ुशहाली के सागर में गोते लगा रहे थे। इसका राज लखीनाथ का जज़्बा और समर्पण रहा। बस्ती को उसके उपकार के ताप का अहसास आज हुआ।

बूढ़ा उठा। उसने हाथ फैला कर लखीनाथ को गले लगाया और उसकी आंखों में आंखें डाल कर पूछा, ' लखी, छह दिन का टाबर ने देण को फेसलो ख़ुद कर लियो या रमती का मन की भी ली?'

लखीनाथ ने औरतों के बीच बैठी रमतीबाई की ओर हाथ का संकेत किया, ' वो बैठ्यी पूछ ल्यौ उसै।'

रमतीबाई टाबर को लेकर उठ खड़ी हुई। वह बीच पंचायत आयी। बच्चे को बूढ़े के हाथों सौंप कर बोली, 'बाबा बड़ा हाथां थमी द्यौ इनै।'

बूढ़े ने बच्चे को लेकर अपनी छाती से लगाया। उसका सिर पुचकारा। मिलनदेवी और सेठ मुंकुददास की ओर एकटक देखा और अपना दंतहीन मुंह चुभलाता रहा। गीली हो आयीं आंखों को झपझपा कर उसने कहा, 'सेठ जी अमीर लियौ बिसर जावै। गरीब दियौ बचन निभावै। टाबर ल्यौ। अंस सपेरो, बंस सेठ।'

मिलनदेवी उठी और उसने बूढ़े के हाथों बच्चा ले लिया था। उसने उसे ऐसे गले लगाया, मानो शिशु नहीं, शशि का टुकड़ा भेंट कर दिया हो।

एकाएक मिलन की आंखें टपटप टपकने लगी थीं। झरते अश्रुकण ख़ुशी और उपकार से लबरेज थे। लखीनाथ का चरित्र और रमती का त्याग उसकी स्मृति की इबारत थे। बस्ती की आशीश सोने पे सुहागा रही। पहले उसका मन चोर की भांति डरा-डरा, दुबका-दुबका था। अब साहूकार की तरह खिला-खिला, उल्लसित हुआ जाता था। वह बोल नहीं पा रही थी। डबडबायी आंखें कहे जाती थीं। पास खड़े सेठ जी की अंगुलियां नेत्रों का गीला समेट रही थीं।

रमतीबाई ने मिलनदेवी से टाबर ले लिया और उसे दूध पिलाती गाड़ी तक लायी। मिलन के बैठने और गाड़ी के स्टार्ट होने तक वह उसे स्तन पिलाती रही। लखीनाथ और श्वान साथ-साथ रहे।

गाड़ी शहर की ओर बढ़ गयी थी।

बस्ती अपने घरों को लौट रही थी।

मो. 09636053497

---

1. बिल्ली 2. बनावटी गर्भ 3. दग़ाबाज़ 4. छुपाव 5. पति 6. वचन 7. आगे से अधिक मोटी, पीछे से पतली तीनेक फ़ीट की मूसलनुमा लकड़ी